

# जिनभाषित

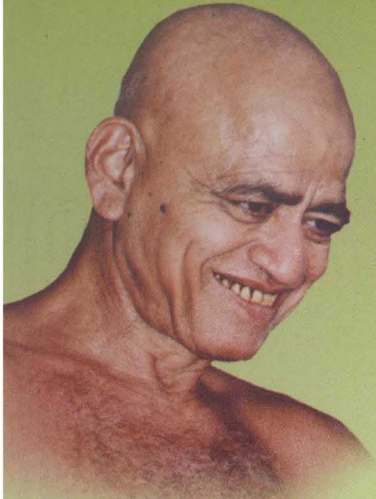
वीर निर्वाण सं. 2533



भगवान् पार्श्वनाथ की अतिशयकारी प्रतिमा  
दि. जैन अतिशयक्षेत्र पनागर (जबलपुर) म.प्र.

प्र, वि.सं. 2063

जनवरी, 2007



# आचार्य श्री विद्यासागर जी के दोहे

55

ओर छोर शुरुआत ना, घनी अँधेरी रात ।  
विषयों की बरसात है, युगों-युगों की बात ॥

56

गात्र प्राप्त था गात्र है, आत्म गोत्र ना प्राप्त ।  
आत्मबोध क्यों ज्ञात हो, युगों-युगों की बात ॥

57

क्या था क्या हूँ क्या बनूँ? रे मन! अब तो सोच ।  
वरना मरना वरण कर, बार-बार अफसोस ॥

58

माना मनमाना करे, मन का धर्म गरूर ।  
मानतुंग के स्मरण से, मानतुंग हो चूर ॥

59

संग रहित बस! अंग है, यथाजात शिशु ढंग ।  
श्रमण जिन्हें मम नमन हो, मानस में न तरंग ॥

60

अंत किसी का कब हुआ? अनंत सब हे सन्त !  
पर, सब मिटता सा लगे, पतझड़ पुनः बसन्त ॥

61

क्रूर भयानक सिंह भी, फना उठाते नाग ।  
तीर्थ जहाँ पर शान्त हो, लपटों वाली आग ॥

62

बिना मूल के चूल ना, चूल बिना फल-फूल ।  
रे! बिन विधि अनुकूल ये, सभी धूल मत भूल ॥

63

प्रभु-दर्शन फिर गुरु कृपा, तदनुसार पुरुषार्थ ।  
दुर्लभ जग में तीन ये, मिले सार परमार्थ ॥

64

सब कुछ लखते पर नहीं, प्रभु में हास-विलास ।  
दर्पण रोया कब हँसा? कैसा यह संन्यास? ॥

65

बादल दलदल यदि करे, दलदल धोवन-हार ।  
और कौन सा दल रहा? धरती पर दिल-दार ॥

66

तरंग क्रम से चल रही, पल-पल प्रति पर्याय ।  
ध्रुव-पदार्थ में पूर्व का, व्यय होता, फिर आय ॥

67

रहस्य खुलता आप जब, सहज मिटे संघर्ष ।  
वस्तु-धर्म के दरस से, विषाद क्यों हो हर्ष? ॥

68

आस्था का बस विषय है, शिव-पथ सदा अमूर्त ।  
वायु-यान पथ कब दिखा, शेष सभी पथ मूर्त ॥

69

किये जा रहे जोश से, विश्व-शान्ति का घोष ।  
दोषों के तो कोष हैं, कहाँ किसे है होश? ॥

70

सुना, सुनाता तुम सुनो, सोना “सो” ना प्राण ।  
प्राण जगाते झट जगो, प्राणों का हो त्राण ॥

71

सब को मिलता कब कहाँ? अपार श्रुत का पार ।  
पर, श्रुत-पूजन से मिले, अपार भवदधि-पार ॥

72

उपादान की योग्यता, निमित्त की भी छाप ।  
स्फटिक मणि में लालिमा, गुलाब बिन ना आप ॥

‘सर्वोदयशतक’ से साभार

जनवरी 2007

मासिक

वर्ष 6, अङ्क 1

## जिनभाषित

सम्पादक  
प्रो. रतनचन्द्र जैन

u

कार्यालय

ए/2, मानसरोवर, शाहपुरा  
भोपाल- 462 039 (म.प्र.)  
फोन नं. 0755-2424666

u

सहयोगी सम्पादक

पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया, मदनगंज किशनगढ़  
पं. रतनलाल बैनाड़ा, आगरा  
डॉ. शीतलचन्द्र जैन, जयपुर  
डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत  
प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ  
डॉ. सुरेन्द्र जैन 'भारती', बुरहानपुर

u

शिरोमणि संरक्षक

श्री रतनलाल कँवरलाल पाटनी  
(मे. आर.के.मार्बल)  
किशनगढ़ (राज.)  
श्री गणेश कुमार राणा, जयपुर

u

प्रकाशक

सर्वोदय जैन विद्यापीठ  
1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,  
आगरा-282 002 (उ.प्र.)  
फोन : 0562-2851428, 2852278

u

सदस्यता शुल्क

शिरोमणि संरक्षक	5,00,000 रु.
परम संरक्षक	51,000 रु.
संरक्षक	5,000 रु.
आजीवन	500 रु.
वार्षिक	100 रु.
एक प्रति	10 रु.

सदस्यता शुल्क प्रकाशक को भेजें।

अन्तस्तत्त्व

पृष्ठ

u	आचार्य श्री विद्यासागर जी के दोहे	आ.पृ. 2
u	स्तवन : मुनि श्री योगसागर जी	आ.पृ. 4
1	श्री शान्तिनाथ-स्तवन	
1	श्री कुन्थुनाथ-स्तवन	
u	सम्पादकीय : समता-निःकांक्षिता में अनुत्तीर्ण गृहस्थ मुनि-डिग्री का पात्र नहीं	2
u	लेख	
1	रयणसार के रचयिता कौन? : पं. वंशीधर शास्त्री एम.ए.	8
1	धर्म एवं संस्कृति-संरक्षण का दायित्व : स्व. डॉ. ज्योतिप्रसाद जी जैन	14
1	सल्लेखना : अन्तिम अवस्था में आत्मशोधन का तप : कैलाश मड़वैया	18
1	मूकमाटी : अधुनातम आध्यात्मिक रूपक महाकाव्य : डॉ. पुष्पलता जैन	21
1	चुप्पी तोड़ें विद्वान् : डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन	26
u	जिज्ञासा-समाधान : पं. रतनलाल बैनाड़ा	29
u	संस्मरण : अनुकम्पा : मुनिश्री क्षमासागर जी	31
u	कविताएँ	
1	बुन्देलखण्डी भजन : प्रस्तुति - मीना देवी जैन	13
1	समाधिभक्ति : मुनि श्री सुव्रतसागर जी	19
u	आपके पत्र	25
u	समाचार	17, 28, 32
		आव. पृष्ठ 3

लेखक के विचारों से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

जिनभाषित से सम्बन्धित समस्त विवादों के लिये न्याय क्षेत्र भोपाल ही मान्य होगा।

## समता-निःकांक्षिता में अनुत्तीर्ण गृहस्थ मुनि-डिग्री का पात्र नहीं

जिनभाषित के प्रस्तुत अंक में पं० वंशीधरजी शास्त्री, एम० ए० का शोध आलेख 'रयणसार के रचयिता कौन' 'जैन सन्देश' / शोधांक 39/भाग संख्या 50 / दि. 23.02.1978 से उद्धृत किया जा रहा है। इसमें शास्त्री जी ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि 'रयणसार' के रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द नहीं हैं, अपितु यह किसी भट्टारक की कृति है, जिसे उन्होंने अपनी आगमविरुद्ध मान्यताओं को प्रामाणिकता प्रदान करने के लिए कुन्दकुन्द के नाम से प्रसिद्ध किया है। मेरा मत है कि आगमविरुद्ध मान्यताओं की उपलब्धि से इसका किसी भट्टारक द्वारा रचित होना आवश्यक नहीं है, किसी शिथिलाचारी मुनि द्वारा भी रचित हो सकता है। पर, इसमें सन्देह नहीं है कि यह आचार्य कुन्दकुन्द की लेखनी से प्रसूत नहीं है। रचयिता ने इसके कुन्दकुन्दकृत होने का भ्रम उत्पन्न करने के लिए उनके विचारों को स्वरचित गाथाओं में गूँथकर ग्रन्थ में यत्र-तत्र विन्यस्त किया है। इससे आगमविरुद्ध मान्यताओं के साथ आगमोक्त सिद्धान्त भी क्वचित् सरल भाषा में प्रतिपादित हुए हैं। इस पर एक दृष्टिपात किया जा रहा है।

### कुन्दकुन्द की दृष्टि में सम्यग्दृष्टि गृहस्थ कथंचिद् भावनग्न

निम्नलिखित गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने जिनागम के हस महत्वपूर्ण सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है कि मनुष्य को जिनाज्ञा के अनुसार पहले गृहस्थवेश में रहते हुए मिथ्यात्वादि दोषों का परित्याग कर भाव से नग्न होना चाहिए, तत्पश्चात् द्रव्य से नग्नता प्रकट करनी चाहिए, अर्थात् द्रव्यमुनिलिंग ग्रहण करना चाहिए-

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताइं य दोस चइऊणं ।

पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥ 73 ॥ भावपाहुड ।

यहाँ मिथ्यात्वादि दोषों के परित्याग को भाव से नग्न होना कहा गया है। मिथ्यात्वादि दोषों में शंका (सप्तभय), कांक्षा आदि मिथ्यात्वजन्य दोष परिगणित किये गये हैं। ख्याति, पूजा, लाभ और भोगों की आकांक्षा होना, सप्तभय और अष्टमद से ग्रस्त होना तथा प्रशंसा-निन्दादि में राग द्वेष करना अर्थात् समभाव से रहित होना मिथ्यात्व के परिणाम हैं। इनका अभाव होने पर मनुष्य भावनग्न होता है। यह सम्यक्त्व से प्रकट होनेवाली प्रथम प्रकार की भावनग्नता है। दूसरे प्रकार की भावनग्नता (भावलिंग) प्रत्याख्यानारणकषाय-क्षयोपशमरूप होती है, जो सम्यक्त्वसहित द्रव्यलिंग (नग्नमुद्रा) ग्रहण करने पर प्रकट होती है, जैसा कि श्रुतसागरसूरि ने स्पष्ट किया है-

“जिनसम्यक्त्वेन सम्यक्त्वश्रद्धानरूपेणेति बीजाङ्कुरन्यायो नोभयं संलग्नं ज्ञातव्यम्। भावल्लिङ्गेन द्रव्यलिङ्गं, द्रव्यलिङ्गेन भावल्लिङ्गं भवतीत्युभयमेव प्रमाणीकर्त्तव्यम्। एकान्तमतेन तेन सर्वं नष्टं भवतीति वेदितव्यं। अलं दुराग्रहेणेति।” (श्रुतसागरटीका/भावपाहुड/गा.73)।

अनुवाद- “जिनसम्यक्त्व अर्थात् सम्यक्श्रद्धानरूप भावल्लिंग की अपेक्षा बीजाङ्कुरन्याय से भावल्लिंग और द्रव्य-लिंग को परस्पर संलग्न जानना चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार बीज के बिना अंकुर और अंकुर के बिना बीज नहीं होता, उसी प्रकार भावल्लिंग के बिना द्रव्यल्लिंग और द्रव्यल्लिंग के बिना भावल्लिंग नहीं होता। एकान्तमत से सम्पूर्ण सिद्धान्त नष्ट हो जाता है। अतः दुराग्रह नहीं करना चाहिए।”

वस्त्रत्याग के बिना भावसंयम नहीं होता (धवला/ष.खं./पु.1/1,1,92/पृ.335) और सम्यग्दर्शन के बिना वस्त्रत्याग-प्रेरक वैराग्य (निःकांक्षितत्व) प्रकट नहीं होता। इसलिए सम्यग्दर्शनजन्य निःकांक्षितत्व आदि गुण प्रथम प्रकार की भावनग्नता या भावल्लिंग है तथा सम्यक्त्वसहित-द्रव्यल्लिंग-ग्रहण से प्रकट भावसंयम द्वितीय प्रकार की भावनग्नता या भावल्लिंग है।

अभिप्राय यह कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति से जब गृहस्थ में निःकांक्षितत्व, निःशंकितत्व आदि गुण प्रकट होते हैं, अर्थात् ख्याति, पूजा, लाभ और भोगों की आकांक्षा (तात्पर्यवृत्ति/समयसागर/गा. 78) समाप्त हो जाती है, सप्तभयों

और अष्टमदों का विगलन हो जाता है और इन सब के फलस्वरूप सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा, स्वर्ण-मिट्टी, लाभ-अलाभ और जीवन-मरण में समभाव आ जाता है तथा कभी-कभी अल्पवस्त्रादि के उपयोग से परीषह-सहन का अभ्यास हो जाता है, तब कहीं वह मुनित्व की देहली (द्वार) पर पहुँचता है, अर्थात् उसमें मुनि की डिग्री (मुनि की उपाधि = मुनिलिंग) प्राप्त करने की अर्हता (qualification) आती है। आचार्य उसे अपने सान्निध्य में रखकर उसकी इस अर्हता की परीक्षा करते हैं और जब वह उत्तीर्ण हो जाता है, तब उसे मुनि की डिग्री अर्थात् नग्नमुद्रारूप मुनिलिंग प्रदान करते हैं।

यदि उत्तीर्ण न होने पर भी उसे मुनि की डिग्री प्रदान कर दी जाती है, तो उसे लेनेवाला और देनेवाला दोनों दोषी होते हैं, क्योंकि अनुत्तीर्ण पुरुष नग्न हो जाने पर अपनी मुनि-उपाधि के अनुरूप गुण प्रदर्शित नहीं कर पाता, उसकी प्रवृत्तियाँ गृहस्थ के ही समान होती हैं। वह ख्याति, पूजा, लाभ और भोग की आकांक्षा से ग्रस्त रहता है, प्रशंसा-निन्दादि में रागद्वेष करता है, जातिगत-भेदभाव रखता है, अतः उसका आचरण मुनिधर्म के विरुद्ध होता है। वह अनेक प्रकार के ढोंग रचता है, मंत्र-तंत्र, ज्योतिष, वैद्यक, लोकप्रिय वक्तृत्व आदि के द्वारा ख्याति-पूजा (प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा) प्राप्त करने की कोशिश करता है, आत्मप्रचार के लिए भाँति-भाँति के हथकण्डे अपनाता है, अपनी सामाजिक उपयोगिता सिद्ध करने तथा मंच-माईक पर एवं पोस्टरों, निमंत्रण-पत्रिकाओं और समाचारों में बने रहने के लिए तड़क-भड़कवाले फिल्मी नृत्य-संगीत-प्रधान खर्चीले कर्मकाण्ड आयोजित कराता है, जिनसे केवल मनोरंजन एवं नाम होता है, दृष्टि, ज्ञान और चरित्र में परिवर्तन रतीभर नहीं। वह आर्थिकाओं और ब्रह्मचारिणियों को अपने साथ रखता है और कदाचित् उनके साथ कामाचार करता है। मोबाइल-फोन, नेपकिन, दूधब्रश, ब्लेड आदि आधुनिक परिग्रह रखता है, फ्लश लेट्रिन, एयरकण्डिशनर, हीटर आदि परीषहनिरोधी साधनों का प्रयोग करता है, स्नान कर लेता है, ब्रश से दन्तधावन करता है, केशलोचन कर ब्लेड से आधुनिक शैली में दाढ़ी सँवारता है, युवक-युवतियों के बीच हास-परिहासवाले कार्यक्रम करता है। अपने से अधिक ज्ञानी, प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध मुनि या श्रावक से ईर्ष्या करता है, इसलिए उनकी छवि विकृत करने की चेष्टा करता है, निन्दात्मक ग्रन्थ लिखकर, पैम्फलेट छपवाकर उनकी अपकीर्ति फैलाने का प्रयत्न करता है, हीनताबोध एवं महत्त्वाकांक्षा के कारण उनके साथ रह नहीं सकता, इसलिए साथ छोड़कर स्वतन्त्र रहने लगता है। इस पतिताचार से जिनशासन की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचता है, जैनेतरों के बीच जिनशासन की निन्दा होती है। इसलिए मुनि-डिग्रीयोग्य क्वालिफिकेशन (अर्हता) के अभाव में मुनि-डिग्री लेनेवाला और देनेवाला दोनों दोषी होते हैं।

यदि उपर्युक्त प्रथम प्रकार की भावनग्नता की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही गृहस्थ को मुनि की डिग्री (दिगम्बरमुनि-लिंग) प्रदान की जाती, तो अनेक मुनि इतने ख्याति-पूजा-लोलुप, अभिमानी, ईर्ष्यालु, असहिष्णु, जातिवादी, पक्षपाती, मूलगुण-तिरस्कर्ता, परिग्रही, धृष्ट, स्वच्छन्द, निरंकुश, आर्थिकाओं और ब्रह्मचारिणियों को साथ रखने में लज्जा का अनुभव न करनेवाले, आतंककारी, हिंसक (अपने दोष दर्शानेवाले को डराने-धमकाने और पिटवानेवाले) और उन्मार्गी न हुए होते, जितने वर्तमान में दिखाई दे रहे हैं, जिनके कारण जैनधर्म की प्रतिष्ठा खतरे में पड़ गयी है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भावनग्नता के बिना द्रव्यनग्नता को ग्रहण करने के दोषों का वर्णन बार-बार किया है-

भावेण होइ नगो बाहिरलिंगेण किं च नगणेण ।

कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दब्बेण ॥ ५४ ॥ भावपाहुड ।

**अनुवाद-** "सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति से जो ख्याति-पूजा-लाभ-भोग-प्रशंसादि की आकांक्षा का अभाव होता है, उससे प्रकट होनेवाला आत्मा का शुद्ध भाव (अवस्था) तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से प्रकट शुद्धभाव, इन दोनों भावों से ही मनुष्य यथार्थतः नग्न होता है, कोरी देह की नग्नता से नहीं और कर्मप्रकृतियों का विनाश भावनग्नत्व एवं द्रव्यनग्नत्व, दोनों के योग से होता है।

सम्यग्दर्शनादि की उत्पत्ति से आत्मा में जो निर्मलता उत्पन्न होती है, उसे आचार्य कुन्दकुन्द ने 'जह दंसणेण सुद्धा' (सुत्तपाहुड/गा. 25), 'तववयगुणेहिं सुद्धो' (बोधपाहुड/गा. 18) इत्यादि गाथाओं में 'शुद्धता' शब्द से अभिहित किया है। आचार्य समन्तभद्र ने भी 'सम्यग्दर्शन शुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः' (र.क.श्रा. 5/16) 'सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ् -नपुंसकस्त्रीत्वानि' (र.क.श्रा.1/35) इन कारिकाओं में ऐसा ही किया है। यहाँ शुद्ध शब्द का अर्थ शुद्धोपयोग नहीं है।

"गग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पणत्तं" (भावपाहुड/गा. 55) इस गाथा में भी आचार्य कुन्दकुन्द ने भावनग्नत्वरहित द्रव्यनग्नत्व को अकार्यकारी बतलाया है।

**रयणसार की गाथाओं में कुन्दकुन्द के विचारों का गुम्फन**

कुन्दकुन्द के इन विचारों को रयणसार के कर्ता ने निम्नलिखित गाथाओं में गूँथा है-

ण हु दंडइ कोहाइं देहं दंडेइ कंहं खवइकम्मं ।

सप्पो किं मुवइ तहा वम्मीए मारिए लोए ॥ 59 ॥ र.सा. ।

**अनुवाद -** "जीव क्रोधादि को तो दंडित नहीं करता, देह को दंड देता है, इससे कर्मों का क्षय कैसे होगा? वामी पर दण्डप्रहार करने से क्या साँप मरता है?"

पुव्वं जो पंचेदिय तणु मणुवचि हत्थपायमुंडाउ ।

पच्छा सिरमुंडाउ सिवगइपहणायगो होइ ॥ 69 ॥ र.सा. ।

**अनुवाद -** "जो पुरुष पहले पाँचों इन्द्रियों को, शरीर, मन और वचन को तथा हाथ और पैर को मूँड़ता है, (वश में करता है), उसके बाद सिर को मूँड़ता है (केशलोच करता है) अर्थात् मुनिलिंग ग्रहण करता है, वही मोक्षमार्ग का नेता बनता है।"

अप्पाणं पि ण पिच्छइ ण मुणइ ण वि सहइइ ण भावेइ ।

बहुदुक्खभारमूलं लिंगं घेतूण किं करइ ॥ 77 ॥

**अनुवाद -** "जिसको आत्मा का न ज्ञान है, न श्रद्धान है, न उसमें स्थित होने की रुचि है, वह अनेक दुःखों के कारणभूत नाग्न्यलिंग को ग्रहण करके क्या करेगा?"

इन गाथाओं में कुन्दकुन्द की उपर्युक्त गाथाओं में वर्णित इस भाव को ही प्रतिबिम्बित किया गया है कि मनुष्य को पहले गृहस्थावस्था में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति द्वारा ख्याति, पूजा, लाभ, और भोगादि की आकांक्षा के परित्याग रूप तथा निन्दा-प्रशंसादि में समभावरूप भावनग्नता को प्रकट करने का अभ्यास करना चाहिए। उसके प्रकट हो जाने पर ही द्रव्यनग्नता अर्थात् मुनिलिंग ग्रहण करना चाहिए। भावनाग्न्य प्रकट हुए बिना द्रव्यनाग्न्य ग्रहण करना कार्यकारी नहीं है। उससे कर्मक्षय नहीं होता, केवल देह दंडित होती है।

वस्त्र त्यागने के पूर्व मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धि-जनित ख्याति, पूजा, लाभ और भोगों की आकांक्षा, प्रशंसा-निन्दादि में राग-द्वेष तथा सप्त भयों एवं अष्ट मदों का त्याग अनिवार्य है, इसका सदृष्टान्त प्रतिपादन आचार्य अमितगति ने 'योगसारप्राभृत' में तथा मल्लिषेणाचार्य ने 'सज्जन चित्तवल्लभ' में इस प्रकार किया है-

प्रमादी त्यजति ग्रन्थं बाह्यं मुक्त्वापि नान्तरम् ।

हित्वापि कञ्चुकं सर्पो गरलं न हि मुञ्चते ॥ 31 ॥ योगसार प्राभृत ।

**अनुवाद -** "प्रमादी मुनि वस्त्रादि बाह्य परिग्रह तो त्याग देता है, किन्तु आम्यन्तर परिग्रह नहीं त्यागता, जैसे सर्प केवल काँचली छोड़ता है, विष नहीं छोड़ता।"

किं वस्त्रत्यजनेन भो मुनिरसावेतावता जायते ।

क्ष्वेडेन च्युतपन्नगो गतविषः किं जातवान् भूतले ॥ सज्जन-चित्तवल्लभ ।

(योगसारप्राभृत /अधिकार ८/कारिका ३१/पं० जुगलकिशोर मुख्तार-कृत व्याख्या में उद्धृत।)

**अनुवाद-** “क्या वस्त्र त्यागने मात्र से कोई मुनि बन जाता है? क्या काँचली छोड़ने से कोई सर्प निर्विष होता है? तात्पर्य यह कि जैसे केंचुली छोड़ने से साँप का विष दूर नहीं होता, वैसे ही वस्त्र त्यागने से मनुष्य की ख्याति-पूजा-लाभ-भोगादि की आकांक्षाएँ विगलित नहीं होतीं, वे सम्यग्दर्शन से ही विसर्जित होती हैं। अतः गृहस्थ मुनिलिंग ग्रहण करने का पात्र तभी होता है, जब उसमें उपर्युक्त भावनाग्न्य प्रकट हो जाय। उसका प्रकटी-करण गृहस्थावस्था में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एवं अणुव्रतादि के अभ्यास द्वारा ही संभव है। अतः श्रावकावस्था मुनिपद के योग्य बनने की पाठशाला है। शिक्षाव्रतों का यही प्रयोजन बतलाया गया है। तथा श्रावक को अपने पद और शक्ति के अनुसार मुनीश्वरों के आचरण को भी निषेध बतलाया गया है। (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/का. 200)।

इस पाठशाला से सारा ज्ञान और वैराग्य लेकर श्रावक आचार्य-परमेष्ठी की शरण में जाता है। तब वे अपना अन्तेवासी बनाकर उसकी परीक्षा करते हैं और उत्तीर्ण होने पर जिनलिंग रूप मुनि-उपाधि प्रदान करते हैं।

### सम्यग्दृष्टि-गृहस्थ भावगृहस्थ नहीं, मात्र द्रव्यगृहस्थ

श्रावकपद कोई मामूली पद नहीं है। सिद्धान्ततः वह परिपूर्ण वैराग्यभाव से युक्त होता है- “सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्यशक्तिः” (समयसार-कलश 136)। श्रावक सम्यग्दर्शन से शुद्ध और संसार-शरीर-भोगों से निर्विण्ण (विरक्त) होता है, अर्थात् उसकी ख्याति-पूजा-लाभ और भोगादि की आकांक्षा विगलित हो जाती है। वह घर में रहते हुए भी घर से विरक्त होता है-“गेही पै गृह में न रचै, ज्यों जलतैं भिन्न कमल है।” (छहढाला)। इसलिए वह मात्र द्रव्य से गृहस्थ होता है, भाव से नहीं। वह संसारस्थ नहीं, अपितु देशसंयमी होने से देश-मोक्षमार्गस्थ होता है- “गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो मोहिनो मुनेः।” (रत्नकरण्डश्रावकाचार 1/33)। इसलिए वह भावगृहस्थ-शिथिलाचारी मुनियों से हजारगुना श्रेष्ठ होता है। अतः यदि शक्ति के अनुसार विवाहित या अविवाहित श्रावक बनकर अपने को मुनिपद के लिए आवश्यक भावनग्नतरूप अर्हता से युक्त कर लिया जाय और उसके बाद मुनिलिंग ग्रहण किया जाय, तो शिथिलाचार प्रायः दुर्लभ हो जायेगा।

### सम्यग्दृष्टि गृहस्थ कथंचिद् भावश्रमण

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वशत्रुवध आदि की आकांक्षारूप निदानभाव से युक्त मुनि को भावश्रमणत्व को अप्राप्त, एवं निदानभावरहित सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को भावश्रमणत्व को प्राप्त बतलाया है। मधुपिंग नामक मुनि के मन में राजा सगर के प्रति शत्रुभाव उत्पन्न हो गया था, जिससे उसने यह निदान किया कि तप के फलस्वरूप उसे ऐसी शक्ति प्राप्त हो कि वह अगले भव में राजा सगर का सकुटुम्ब विनाश कर सके। आचार्य कुन्दकुन्द भावपाहुड में कहते हैं कि इस निदान के कारण वह भावश्रमणत्व को प्राप्त नहीं हुआ-

मधुपिंगो गाम मुणी देहाहारादिचित्तवावारो ।

सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ॥ 45 ॥ भा.पा. ।

**अनुवाद-** “हे भव्यजीवों के द्वारा स्तुत मुनि! देखो, मधुपिङ्ग नामक मुनि ने यद्यपि शरीर तथा आहारदि-सम्बन्धी क्रियाओं का परित्याग कर दिया था, तथापि वह निदानमात्र से श्रमणत्व (भावश्रमणत्व) को प्राप्त नहीं हुआ।

कुन्दकुन्द ने एक वसिष्ठ नामक जैनमुनि (भावपाहुड/गा. 46) को भी इसी प्रकार के निदानभाव के कारण तथा बाहु नामक (भावपाहुड/गा. 47) एवं द्वीपायन नामक (भावपाहुड/गा. 50) जैन मुनियों को क्रोधकषाय के कारण और भव्यसेन मुनि को (भावपाहुड/गा. 52) आगमविरुद्ध चर्या के कारण भावश्रमणत्व को अप्राप्त बतलाया है।

इसके विपरीत राजपुत्र शिवकुमार (अन्तिम केवली जम्बूस्वामी के तृतीय पूर्वभव के जीव) को गृहस्थावस्था में युवती-पत्नियों के बीच में रहते हुए भी सम्यग्दर्शनजनित वैराग्यभाव एवं ब्रह्मचर्यव्रत से युक्त होने के कारण भावश्रमण एवं परीतसंसारी (अल्पसंसारी) कहा है -

भावसवणो य धीरो जुवईयणवेड्ढिओ विसुद्धमई ।

णामेण सिवकुमारो परित्तसंसारिओ जादो ॥ 51 ॥ भा.पा. ।

**अनुवाद-** “शिवकुमार नामक राजकुमार भावश्रमण और धीर (दृढमनस्क) था, इसलिए युवती-पत्नियों से घिरा होने पर भी निर्विकार रहने के कारण अल्पसंसारी हुआ।

श्रुतसागरसूरि ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है- “भावश्रमणश्च जिनसम्यक्त्ववासितः धीरो दृढसम्यक्त्वः अविचलितामलिनमनाः युवतिजनवेष्टितः हावभाव-विभ्रमविलासोपेत-राजकन्यात्मयुवतिसमूहपरिवृतोऽपि विशुद्धमतिः निर्मलब्रह्मचर्य-निष्कलुषचित्तः नाम्ना कृत्वा शिवकुमारो नरेन्द्रपुत्रः अल्पसंसारिकः परित्यक्तसंसारः आसन्नभव्यो जातः।”

**अनुवाद -** “शिवकुमार नामक राजकुमार भावश्रमण अर्थात् जिनसम्यक्त्वयुक्त एवं धीर अर्थात् दृढसम्यग्दृष्टि या स्थितप्रज्ञ था। अतः अपनी हावभाव-विभ्रम-विलासवाली, राजकुलोत्पन्न, तरुणी पत्नियों के बीच में रहने पर भी उसका चित्त निर्मल ब्रह्मचर्य के कारण निष्कलुष रहता था, फलस्वरूप वह अल्पसंसारी हुआ।”

**सम्यग्दृष्टि गृहस्थ जल से कमलपत्रवत् विषयकषायों से अलिप्त**

आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दृष्टि जीव की लोकोत्तरता दर्शाते हुए कहा है-

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलणिपत्तं सहावपयडीए।

तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥ 152 ॥ भावपाहुड।

**अनुवाद -** “जैसे कमलिनी का पत्र स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही सत्पुरुष अर्थात् सम्यग्दृष्टि मनुष्य स्वभाव से ही क्रोधादिकषायों और पञ्चेन्द्रियविषयसुख की आकांक्षा से लिप्त नहीं होता।

क्रोधादिकषायों और पञ्चेन्द्रियविषयसुख की आकांक्षा से लिप्त होना संसारीजीव का स्वभाव है, इनसे अलिप्त रहना सम्यग्दृष्टि जीव की लोकोत्तरता है। उक्त गाथा की टीका में श्रुतसागरसूरि ने अनेक दृष्टान्तों से इस निर्लिप्तता की पुष्टि करनेवाला निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है-

धात्रीबालाऽसतीनाथपद्मिनीदलवारिवत्।

दग्धरज्जुवदाभासं भुञ्जन् राज्यं न पापभाक् ॥

**अनुवाद -** “जैसे धाय बालक का लालन-पालन करती हुई भी उसे अपना पुत्र नहीं मानती, जैसे पति अपनी चरित्रहीन पत्नी से सम्बन्ध रखता हुआ भी उससे विरक्त रहता है, जैसे कमलिनीपत्र पर पड़ी हुई पानी की बूँद उसमें समाती नहीं है, अपितु अलग बनी रहती है और जैसे जली हुई रस्सी ‘रस्सी’ जैसी दिखती है, पर उसमें बाँधने की शक्ति नहीं होती, वैसे ही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ राज्य आदि का उपभोग करते हुए भी उसमें आसक्त नहीं होता, अतः पाप का भागी नहीं बनता।

आगम में सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य की जो इतने दृष्टान्तों द्वारा प्रतीति करायी गयी है, उसे जो ‘भावनग्न’, ‘भावश्रमण’ और ‘भावलिङ्गी’ की उपाधियाँ प्रदान की गयी हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि आगम में उसे उच्च दृष्टि से देखा गया है, मात्र विषय-कषायों में लिप्त और आर्त्तौद्रध्यानों में रत एक हीन मुन्य की तरह नहीं। इस तरह तो मिथ्यादृष्टि गृहस्थ को देखा गया है। आचार्य समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन सम्पन्न चाण्डाल को भी आदरणीय बतलाया है। (रत्नकरण्डश्रावकाचार/का. 1/28)।

इससे यह द्योतित किया गया है कि यदि मनुष्य में वर्तमान में परीषहजय-सामर्थ्याभाव के कारण मुनि बनने की शक्ति नहीं है, तो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ बनना भी अर्थात् कथंचित् भावनग्न, भावश्रमण या भावलिङ्गी बनना भी बहुत बड़ी उपलब्धि है, क्योंकि यह मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी और मुनित्व का सिंहद्वार है। और वस्तुतः इस सीढ़ी पर चढ़ना ही सबसे कठिन है। जो इस सीढ़ी पर आरूढ़ होने में सफल हो जाता है, उसे परीषहजयसामर्थ्य होने पर यथार्थ श्रमणत्व (भावश्रमणत्वसहित द्रव्यश्रमणत्व) की प्राप्ति कठिन नहीं रहती। जो इस सीढ़ी पर आरूढ़ हुए बिना श्रमण बनने की कोशिश करता है, वह श्रमणाभास बनकर रह जाता है, क्योंकि केवल नागन्यादिपरीषह-सहन श्रमण का लक्षण नहीं है, बल्कि ख्याति-पूजा-लाभ-भोगाकांक्षा-त्यागपूर्वक तथा शत्रुमित्र, निन्दाप्रशंसा, सुखदुःखादि में समभावपूर्वक



नागन्यादिपरीषह-सहन श्रमण का लक्षण है, जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में कहा है-

सम सत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।

समलोडुक्कंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥3/41 ॥

आज के श्रमणाभासों में इस लक्षण का अभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है ।

### सर्वप्रथम मुनिधर्मोपदेश, किन्तु दीक्षा योग्यतानुरूप

पुरुषार्थसिद्धयुपाय (कारिका 17-19) में कहा गया है कि गृहस्थों के सामने सर्वप्रथम मुनिधर्म का ही कथन करना चाहिए। जब मुनिधर्म का वर्णन सुनकर भी गृहस्थ उसे ग्रहण करने में उत्साहित न हो, तभी गृहस्थधर्म का प्ररूपण करना उचित है। जो अल्पमति उपदेशक इस क्रम का भंग करता है, उसके लिए जिनमत में प्रायश्चित्त का विधान किया गया है, क्योंकि उक्त क्रम को भंग करने से अर्थात् पहले गृहस्थधर्म का कथन करने से मुनिधर्म के पालन में उत्साह रखनेवाला शिष्य भी अनुत्कृष्ट गृहस्थ-धर्म में सन्तुष्ट होकर उत्कृष्ट-मुनिधर्म से वंचित हो जायेगा।

इस कथन से यह अभिप्राय नहीं लेना चाहिए कि मुनिधर्म ग्रहण करने के लिए उत्साहित शिष्य को उसकी योग्यता परखे बिना ही मुनिदीक्षा दे दी जानी चाहिए। बहुत से मनुष्य क्षणिक भावावेश में आकर अथवा ख्याति-पूजा-लाभादि की आकांक्षा के वशीभूत होकर अथवा दूसरों की देखादेखी उनकी बराबरी करने के लिए अथवा निराश्रित या जीवनयापन आदि की समस्या होने के कारण अथवा गुरुभक्ति या स्वामिभक्ति प्रदर्शित करने के उद्देश्य से स्वयोग्यता का विचार किये बिना ही मुनिदीक्षा के लिए उत्सुक हो जाते हैं। ऐसे पुरुषों को यदि दीक्षा दे दी जाती है, तो उनका वही हाल होता है, जो भगवान् ऋषभदेव के साथ दीक्षित हुए चार हजार राजाओं का हुआ था। उन्होंने मात्र स्वामिभक्ति प्रदर्शित करने के लिए धर्म के मर्म को जाने बिना और अपनी योग्यता का ख्याल किये बगैर मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली थी। किन्तु, परीषह न सह पाने के कारण मुनिपद से भ्रष्ट हो गये। (देखिए, आदिपुराण 17/212-214, 18/16, 47-53)। इसलिए मुनिधर्म का कथन करने के बाद भी शिष्य की योग्यता परख कर ही दीक्षा दी जानी चाहिए, यह आगम का अभिप्राय है। आचार्य हरिषेणकृत 'बृहत्कथाकोश' के 'यशोधर-चन्द्रमती-कथानक' (क्र. 73) में बतलाया गया है कि दो राजकुमार सुदत्त मुनि से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर विरक्त हो जाते हैं और उनसे मुनिदीक्षा की याचना करते हैं। सुदत्त मुनि उनसे कहते हैं- "आप लोगों के अंग सुकुमार हैं। उन्हें परीषह सहने का अभ्यास नहीं है। इसीलिए अभी आप मुनिव्रत का पालन नहीं कर पायेंगे। इस समय आप लोगों को क्षुल्लकधर्म का सेवन करना चाहिए, मुनिदीक्षा बाद में दूँगा।" देखिए-

युवां सुकुमाराङ्गावनध्यासितपरीषहौ ।

शक्नुथो न व्रतं जैनं ग्रहीतुं मुग्धचेतसौ ॥ 238 ॥

विधातुमधुना युक्तं धर्मं क्षुल्लकसेवितम् ।

चरमं युवयोर्दास्ये धर्मं दैगम्बरं परम् ॥ 239 ॥

दोनों राजकुमार मुनिवर की आज्ञा स्वीकार कर लेते हैं। पहले वे क्षुल्लक बनकर परीषह-सहन का अभ्यास करते हैं और जब परीषहजय में निष्णात हो जाते हैं, तब सुदत्त मुनि उन्हें मुनिदीक्षा दे देते हैं। (वही/299)।

यह इस बात का ज्वलन्त आगमप्रमाण है कि गृहस्थ को सर्वप्रथम मुनिधर्म का उपदेश देते हुए भी, मुनिधर्मपालन की योग्यता देखकर ही मुनिदीक्षा दी जानी चाहिए।

### मोक्षप्राप्ति भावश्रमणत्व और द्रव्यश्रमणत्व दोनों के योग से

यद्यपि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को कथंचित् भावश्रमण कहा गया है, तथापि यह ध्यान में रखने योग्य है कि मोक्ष की प्राप्ति न केवल भावश्रमणत्व से होती है, न केवल द्रव्यश्रमणत्व से, अपितु दोनों के योग से होती है। इस तथ्य का निरूपण आचार्य कुन्दकुन्द ने 'भावपाहुड' की पूर्वोद्धृत 54 वीं गाथा 'भावेण होइ नग्गो' में किया है।

रतनचन्द्र जैन

## रयणसार के रचयिता कौन ?

पं. बंशीधर शास्त्री, एम. ए.

मुस्लिम शासनकाल में भारत में ऐसी परिस्थितियाँ हो गई थीं, जिनके कारण दिगम्बरजैन साधु नग्न नहीं रह सके और इन्हें वस्त्र धारण करने पड़े। ऐसे वस्त्रधारी साधु भट्टारक कहलाते थे। प्रारम्भ में कतिपय भट्टारकों ने साहित्य-संरक्षण एवं संस्कृति की परम्परा बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। किन्तु वे वस्त्र, वाहन, द्रव्यादि रखते हुए भी अपने आपको साधु के रूप में ही पुजाते रहे। वे पीछी-कमण्डल भी रखते थे। चूँकि दिगम्बरपरम्परा में वस्त्रधारी व परिग्रहधारी को साधु नहीं माना जा सकता, इसलिए इन भट्टारकों ने अधिकांश साहित्य, जो कि उस समय हस्तलिखित होने के कारण अल्प संख्या में ही था, अपने कब्जे में कर लिया। इन भट्टारकों ने प्रमुख केन्द्रों में अपने-अपने मठ बना लिए, विभिन्न प्रकार से श्रावकों से धन संचय करने लगे और उन श्रावक-श्राविकाओं को शास्त्रों और आगमपरम्परा से दूर रखा। उन्होंने धर्म के नाम पर मंत्रतंत्रादि का लोभ या डर दिखाकर कई ऐसी प्रवृत्तियाँ चलाई, जो दिगम्बरजैन आगम के अनुकूल नहीं थीं। इन्होंने प्राचीन साहित्य अपने अधिकार में कर लिया और नवीन साहित्य निर्माण करने लगे, वह भी कभी-कभी प्राचीन आचार्यों के नाम पर, ताकि लोग उन्हें प्रामाणिक समझकर उन प्रवृत्तियों का विरोध नहीं करें। ऐसे नवनिर्मित साहित्य द्वारा उन नवीन प्रवृत्तियों का समर्थन किया गया। इन्होंने त्रिवर्णाचार, सूर्यप्रकाश, चर्चासागर, उमास्वामी-श्रावकाचार आदि आगमविरुद्ध ग्रन्थों का निर्माण किया था। स्व.पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार, पं. परमेष्ठीदास जी जैसे विद्वानों ने इनकी समीक्षा कर स्थिति स्पष्ट कर दी है।

यह ठीक है कि आगरा-जयपुर के विद्वानों द्वारा ज्ञान के सतत प्रसार से उत्तर भारत में इन भट्टारकों का अस्तित्व समाप्तप्रायः हो गया है, फिर भी कुछ भाई, जिनमें विद्वान् एवं त्यागी भी हैं, फिर भट्टारकपरम्परा को प्रोत्साहन देना चाहते हैं और उन भट्टारकों द्वारा रचित ग्रन्थों का प्रचार करते हैं।

ऐसे ग्रन्थों में 'रयणसार' भी एक है। यद्यपि इसे आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा विरचित बताया जाता है, किन्तु इस ग्रन्थ की परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ अपने वर्तमानरूप में कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित नहीं हो सकता। अपने विचार प्रस्तुत करने से पूर्व मैं कतिपय साहित्यमर्मज्ञ

विद्वानों के मत उद्धृत करना आवश्यक समझता हूँ।

स्व. डॉ. ए. एन. उपाध्याय ने प्रवचनसार की भूमिका में इस प्रकार लिखा है-

'रयणसार' ग्रन्थ गाथा-विभेद, विचार-पुनरावृत्ति, अपभ्रंश पद्यों की उपलब्धि, गणगच्छादि का उल्लेख और बेतरतीबी आदि को लिए हुए जिस स्थिति में उपलब्ध है, उस पर से वह पूरा ग्रन्थ कुन्दकुन्द का नहीं कहा जा सकता। कुछ अतिरिक्त गाथाओं की मिलावट ने उसके मूल में गड़बड़ उपस्थित कर दी है और इसलिए जब तक कुछ दूसरे प्रमाण उपलब्ध न हो जायँ, तब तक यह विचाराधीन ही रहेगा कि कुन्दकुन्द इस रयणसार के कर्ता हैं।

पुरातन ग्रन्थों के पारखी स्व. पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार का रयणसार के सम्बन्ध में निम्न मत है-

"यह ग्रन्थ अभी बहुत कुछ संदिग्ध स्थिति में स्थित है। जिस रूप में अपने को प्राप्त हुआ है, उस पर से न तो इसकी ठीक पद्यसंख्या ही निर्धारित की जा सकती है और न इसके पूर्णतः मूल रूप का ही पता चलता है। ग्रन्थप्रतियों में पद्यसंख्या और उनके क्रम का बहुत बड़ा भेद पाया जाता है। कुछ अपभ्रंश भाषा के पद्य भी इन प्रतियों में उपलब्ध हैं। एक दोहा भी गाथाओं के मध्य में आ घुसा है। विचारों की पुनरावृत्ति के साथ कुछ बेतरतीबी भी देखी जाती है,<sup>१</sup> गण गच्छादि के उल्लेख भी मिलते हैं, ये सब बातें कुन्दकुन्द के ग्रंथों की प्रवृत्ति के साथ संगत मालूम नहीं होतीं, मेल नहीं खातीं।" (पुरातन जैनवाक्य सूची-प्रस्तावना)।

स्व. डॉ. हीरालाल जी जैन ने अपने 'भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान' शीर्षक ग्रंथ में रयणसार के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है-

"इसमें एक दोहा व छः पद अपभ्रंश भाषा में पाये जाते हैं। या तो ये प्रक्षिप्त हैं या फिर यह रचना कुन्दकुन्दकृत न होकर उत्तरकालीन लेखक की कृति है, गण, गच्छ आदि के उल्लेख भी उसको अपेक्षाकृत पीछे की रचना सिद्ध करते हैं।" (पृ. १०५)।

श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल ने 'कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न' शीर्षक पुस्तक में रयणसार के सम्बन्ध में निम्न मत प्रस्तुत किया है-

“इस ग्रंथ के कुन्दकुन्दाचार्यरचित होने की बहुत कम सम्भावना है अथवा इतना तो कहना ही चाहिए कि इसका विद्यमान रूप ऐसा है जो हमें संदेह में डालता है। इसमें अपभ्रंश के कुछ श्लोक हैं और गण-गच्छ और संघ के विषय में जिस प्रकार का विवरण है, वह सब उनके अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता।” (पृ. २०)

पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने ‘रयणसार’ को ‘कुन्दकुन्दभारती’ नामक कुन्दकुन्द के समग्रसाहित्य में इसलिए सम्मिलित नहीं किया कि इसमें गाथा संख्या विभिन्न प्रतियों में एक रूप नहीं है। कई प्राचीन प्रतियों में कुन्दकुन्द का नाम रचनाकार के रूप में नहीं है।

स्व. डॉ. नेमीचन्द जी ज्योतिषाचार्य ने ‘तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा’ के दूसरे खण्ड में पृष्ठ ११५ पर रयणसार के सम्बन्ध में डॉ. उपाध्ये का मत उद्धृत करते हुए लिखा है “वस्तुतः शैली की भिन्नता और विषयों के सम्मिश्रण से यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दरचित प्रतीत नहीं होता।”

डॉ. लालबहादुर शास्त्री ने अपने ‘कुन्दकुन्द और उनका समयसार’ नामक ग्रन्थ में रयणसार का परिचय देकर लिखा है कि “रयणसार की रचना गम्भीर नहीं है, भाषा भी स्वल्पित है, उपमाओं की भरमार है। ग्रन्थ पढ़ने से यह विश्वास नहीं होता है कि यह कुन्दकुन्द की रचना है। यदि कुन्दकुन्द की रचना यह रही भी होगी, तब इसमें कुछ ही गाथाएँ ऐसी होंगी, जो कुन्दकुन्द की कही जा सकती हैं। शेष गाथाएँ व्यक्तिविरोध में लिखी हुई प्रतीत होती हैं। गाथाओं की संख्या १६७ है।” (पृ. १४२)। (इस ग्रन्थ का विमोचन उपाध्याय श्री विद्यानन्दजी के आशीर्वाद से हुआ है।)

इस प्रकार उक्त विद्वानों व अन्य प्रमुख विद्वानों द्वारा भी ‘रयणसार’ कुन्दकुन्द की रचना नहीं मानी गई है।

इस ग्रन्थ को कुन्दकुन्दाचार्यकृत न मानने के कुछ और भी कारण हैं, जिन पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है—

१. कुन्दकुन्द के सभी ‘सार’ ग्रंथों (प्रवचनसार, नियमसार और समयसार) पर संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध हैं, जब कि इसी तथाकथित ‘सार’ (रयणसार) की संस्कृत टीका नहीं है। प्राचीनकाल में कुन्दकुन्द के उक्त तीनों ग्रंथ नाटकत्रयी के नाम से विख्यात हैं और यदि उनके सामने यह ‘रयणसार’ उपलब्ध होता, तो नाटकत्रयी ही क्यों कहते?

२. कुन्दकुन्दाचार्य से लेकर १७ वीं शताब्दी तक न तो इसकी कोई हस्तलिखित प्रति मिलती है, न किसी भी

आचार्य या विद्वान् ने उस समय तक इसका कोई उल्लेख या उद्धरण दिया है। कुन्दकुन्द के टीकाकार अमृतचंद्र, पद्मप्रभमलधारी, जयसेन आदि टीकाकारों ने भी इसका कहीं भी उल्लेख नहीं किया। पं. आशाधर, श्रुतसागर आदि टीकाकारों ने भी अपनी टीकाओं में इसका उल्लेख नहीं किया, जबकि उनकी टीकाओं में प्राचीन ग्रंथों के उद्धरण प्रचुरता से मिलते हैं।

३. १७वीं शताब्दि से पूर्व की इसकी कोई हस्तलिखित प्रति लेखनकाल-युक्त अभी तक नहीं मिली। कोई व्यक्ति किसी प्रति को अनुमान से किसी भी काल की बता दे, वह बात प्रामाणिक नहीं कही जा सकती है।

४. कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओं में विषय को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया गया है, जबकि इसमें पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार के शब्दों में “विषय बेतरतीबी से प्रस्तुत किए गए हैं।” वैसे कहा यह जाता है कि ‘रयणसार’ की रचना प्रवचनसार और नियमसार के पश्चात् की गई थी (देखें, रयणसार प्रस्तावना डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री पृ. २१), किन्तु रयणसार एवं इन ग्रन्थों की तुलना से विदित हो जाता है कि प्रवचनसार और नियमसार जैसे प्रौढ़ एवं सुव्यवस्थित ग्रन्थों का रचयिता ‘रयणसार’ जैसी संकलित, अव्यवस्थित, पूर्वापर-विरुद्ध और आगमविरुद्ध रचना नहीं लिखेगा। (इसके आगम विरुद्ध मंतव्यों का आगे विवेचन किया जायेगा।)

५. इसकी विभिन्न प्रतियों में गाथा संख्याएँ समान नहीं हैं, वे १५२ से लेकर १७० तक हैं।

६. कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में उच्चस्तरीय प्राकृत भाषा के दर्शन होते हैं, उनके काल में अपभ्रंश भाषा थी ही नहीं। उसका प्रचलन एवं प्रयोग कुन्दकुन्द के सैकड़ों वर्ष बाद हुआ है, फिर अपभ्रंश की गाथाएँ रयणसार में कैसे आ गईं। डॉ. लालबहादुर शास्त्री के शब्दों में इसकी भाषा स्वल्पित है। इससे स्पष्ट है कि यह रचना कुन्दकुन्द के बहुत काल बाद, जब अपभ्रंश का प्रयोग होने लगा होगा, अन्य किसी द्वारा लिखी जा कर कुन्दकुन्दाचार्य के नाम से प्रचारित की गई होगी।

१७ वीं १८ वीं शताब्दी में अचानक इस ग्रन्थ का प्रादुर्भाव कैसे हुआ, यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका है। यह ठीक है कि ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में कुन्दकुन्द का नाम बिना दिए ‘रयणसार’ की एक गाथा उद्धृत की गई है। पाठकों को ध्यान रहे कि इस ग्रन्थ में अजैन ग्रन्थों के उद्धरण

भी यथाप्रसंग उद्धृत किये गये हैं। अतः उसी प्रकार रयणसार की गाथा भी उद्धृत की गई हो तो क्या आश्चर्य है? १८वीं १९ वीं शताब्दी में हुए भूधरदास जी एवं पं. सदासुख जी ने इसे कुन्दकुन्दकृत कहा है। सम्भव है उस समय कुन्दकुन्द का नाम होने के कारण इस ग्रन्थ का विषय, सिद्धान्त, शैली आदि का विशेष विवेचन न किया गया होगा और इसे कुन्दकुन्द की रचना लिख दी हो, जैसा कि आज भी हो रहा है। कुछ लोग इस प्रचार के कारण इसे कुन्दकुन्दकृत मान लेते हैं और दूसरे से पूछते हैं कि इसे क्यों नहीं मानते?

‘रयणसार’ को कुन्दकुन्द की रचना सिद्ध करने के लिए इसमें मंगलाचरण, अन्तिम पद व कई विषय ऐसे लिखे गए हैं, जो कुन्दकुन्द की रचना से साम्य को लिए हुए प्रतीत हों और दूसरी ओर कुन्दकुन्द एवं दिगम्बरमान्यता से असम्मत मत भी इसमें प्रस्तुत कर दिए गए हैं, ताकि लोग उन असम्मत मतों को भी कुन्दकुन्दाचार्य कृत मान लें।

अब ‘रयणसार’ की ऐसी गाथाओं पर विचार किया जाता है जो आगमपरम्परा, कुन्दकुन्दाचार्य कृत अन्य रचनाओं एवं रयणसार की ही अन्य गाथाओं के विपरीत मान्यता-वाली हैं।

दान के प्रसंग में पात्र और अपात्र का विचार न करने वाली निम्न गाथा उल्लेखनीय है-

दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो ।

पत्तापत्तविसेसं संदसणे किं वियारेण ॥ १४ ॥

“यदि गृहस्थ आहार मात्र भी दान देता है, तो धन्य हो जाता है साक्षात्कार होने पर उत्तम पात्र-अपात्र का विचार करने से क्या लाभ?”

इसी गाथा के आगे १५ से २० वीं गाथा में उत्तम पात्र को ही दान देने का फल बताया है, न कि अपात्र को दान देने का फल। कुन्दकुन्दाचार्य-कृत किसी भी रचना में नहीं लिखा कि अपात्र को दान देना चाहिए।

प्रवचनसार की गाथा २५७ में अपात्र को दान देने का फल इस प्रकार बताया है -

“जिन्होंने परमार्थ को नहीं जाना है और जो विषय कषायों में अधिक हैं, ऐसे पुरुषों के प्रति सेवा, उपकार या दान कुदेव रूप में और कुमानुष रूप में फलता है।

वसुनन्दी श्रावकाचार में २४२ वीं गाथा में अपात्रदान का फल निम्न प्रकार लिखा है-

“जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोया हुआ बीज कुछ

भी नहीं उगता है, उसी प्रकार अपात्र में दिया गया दान भी फल-रहित जानना चाहिए।”

शास्त्रकारों ने मिथ्यादृष्टि को अपात्र कहा है और उसे दान देने का फल इस प्रकार बताया गया है- दर्शनपाहुड की टीका में लिखा है कि मिथ्यादृष्टि को अन्नादिक का दान भी नहीं देना चाहिए। कहा भी है- “मिथ्यादृष्टि को दिया गया दान दाता का मिथ्यात्व बढ़ानेवाला है। इसी प्रकार सागारधर्माभूत में लिखा है- “चारित्र्याभास को धारण करनेवाले मिथ्यादृष्टियों को दान देना सर्प को दूध पिलाने के समान केवल अशुभ के लिए होता है। (२१-६४/१४९)।

उपासकाध्ययन में उस दान को सात्त्विक कहा गया है, जिसमें पात्र का परीक्षण व निरीक्षण स्वयं किया गया हो और उस दान को तामस दान कहा गया है, जिसमें पात्र-अपात्र का ख्याल न किया गया हो। सात्त्विक दान को उत्तम एवं सब दानों में तामसदान को जघन्य कहा गया है। (८२९-३१)।

पाठक विचार करें कि अपात्र के दान का इस प्रकार का फल होने पर कुन्दकुन्दाचार्य जैसे महान् आचार्य कैसे कह देते कि पात्र-अपात्र का क्या विचार करना?

वस्तुतः ऐसी गाथा कोई भट्टारक या शिथिलाचारी ही लिख सकता है, जो चाहता है कि लोग उसे आहारदान देते ही रहें, चाहे उसका आचरण कैसा ही क्यों न हो। उसकी परीक्षा न करें और एक बार आहार देने पर उसकी फिर परीक्षा करना या शिथिलाचारी या अनाचारी मान लेने पर भी उसको प्रकाश में लाना सम्भव नहीं हो सकेगा।

‘यशस्तिलक’ चम्पू काव्य (आश्वास ८) में उक्त १४ वीं गाथा के आशय का निम्न श्लोक मिलता है-

भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम् ।

ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति ॥ ३६ ॥

उक्त चम्पूकाव्य उत्तरकालीन रचना होने के साथ-साथ एक काव्यग्रन्थ है, जिसको आचारशास्त्र या दर्शन की मान्यता नहीं दी जा सकती। वैसे सिद्धान्त की दृष्टि से उक्त श्लोक भी आगमपरम्परा के प्रतिकूल ही है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ सच्चे साधु को ही वंदनापूर्वक आहार दे सकता है, वह असाधु की वंदना नहीं कर सकता।

आज भी शिथिलाचारियों के विरोध की बात पर उक्त गाथा की दुहाई दी जाती है और उनको दान देने का समर्थन किया जाता है। ‘रयणसार’ की अन्य गाथाओं में

उत्तम पात्र को दान देनेवाली जो गाथाएँ हैं, उन्हें उद्धृत नहीं किया जाता, किन्तु १४ वीं गाथा अवश्य उद्धृत की जाती है। समणसुत्त में भी उक्त गाथा का समावेश किया है, जब कि उत्तम पात्र को दान देने की प्रेरणा देने वाली न केवल रयणसार में, अपितु अन्य सभी शास्त्रों में गाथाएँ हैं, किन्तु वे गाथाएँ समणसुत्त में नहीं दी गई हैं।

इस प्रकार की गाथाओं से अपात्रों- मिथ्यादृष्टि, शिथिलाचारी एवं अनाचारी को प्रोत्साहन एवं समर्थन मिलता है। ऐसी गाथा कुन्दकुन्द जैसे आगमपरम्परा के संस्थापक की नहीं हो सकती।

मुनि के आहार के पश्चात् प्रसाद दिलानेवाली निम्न गाथा भी विचारणीय है-

जो मुनिभुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिट्ठं ।

संसार-सारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥ २१ ॥

“जो जीव मुनियों को आहारदान देने के पश्चात् अवशेष अंश का सेवन करता है, वह संसार के सारभूत उत्तम सुखों को प्राप्त होता है और क्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।”

क्षुल्लक ज्ञानसागर जी ने अवशेष अंश के लिए लिखा है कि इस को प्रसाद समझकर ग्रहण करना चाहिए इसका दानसार में महत्त्व बताया गया है।

अब तक मैंने रयणसार की ४-५ मुद्रित प्रतियाँ देखी हैं। उनमें यह गाथा उक्त रूप में ही लिखी गई है। समणसुत्त में भी उक्त गाथा इसी रूप में सम्मिलित की गई है, किन्तु अभी डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा सम्पादित रयणसार में इस गाथा में आगत ‘मुनिभुत्तवसेसं को मुणिभुत्तवसेसं लिखा गया है। यह परिवर्तन सम्भवतः इसीलिए किया गया है कि प्रसाद खाने का जैनपरम्परा से किसी प्रकार औचित्य सिद्ध नहीं होता, अन्यथा इस परिवर्तन का कारण उन्होंने नहीं बताया।

निम्न गाथा में मुनि के लिए देय पदार्थों की सूची दी गई है-

हिय-मिय-मण्णं-पाणं णिरवज्जोसहिं णिराउलं ठाणं ।

सयणासणमुवयरणं जाणिज्जा देइ मोक्खरओ ॥ २३ ॥

“मोक्षमार्ग में स्थिर (गृहस्थ) (मुनि के लिए) हितकर परिमित अन्नपान, निर्दोष औषधि, निराकुल स्थान, शयन, आसन, उपकरण समझकर देता है।” (डॉ. देवेन्द्रकुमार जी ने भावार्थ में उपकरण के बाद कोष्ठक में ‘आदि’ और लिखा है)। मुनि के लिए शयन आसन, उपकरण और

आदि क्या है? आज मुनिगण अपने इन शयन, आसन, उपकरण आदि के नाम पर इतना परिग्रह रखते हैं कि उन्हें लाने ले जाने के लिए बड़ी-बड़ी बसें चाहिए। इतने परिग्रह को रखते हुए वे मुनि निर्ग्रन्थ, दिगम्बर कैसे कहला सकते हैं?

निम्न गाथा में सप्तक्षेत्रों में दान देने का फल इस प्रकार बताया गया है-

इह णियसुवित्तबीयं जो ववइ जिणुत्तसत्तखेत्तेसु ।

सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि कल्लाणपचफलं ॥ १६ ॥

“इस लोक में जो व्यक्ति निज श्रेष्ठ धनरूप बीज को जिनदेव द्वारा कथित सप्तक्षेत्रों में बोता है, वह तीन लोक के राज्यफल पंचकल्याणरूप फल को भोगता है।”

इन सप्तक्षेत्रों का किसी प्राचीन ग्रन्थ में उल्लेख देखने में नहीं आया। डॉ. देवेन्द्रकुमार जी ने भावार्थ में सप्तक्षेत्र इस प्रकार लिखे हैं। १. जिनपूजा २. मंदिर आदि की प्रतिष्ठा ३. तीर्थयात्रा ४. मुनि आदि पात्रों को दान देना ५. सहधर्मियों को दान देना ६. भूखे प्यासे तथा दुखी जीवों को दान देना ७. अपने कुल व परिवार वालों को सर्वस्वदान करना। कुन्दकुन्दाचार्य, उनके टीकाकार व अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में क्षेत्र के ये भेद देखने में नहीं आए। प्राचीन ग्रन्थों में उत्तम मध्यम एवं जघन्य पात्रों के नाम से तीन भेद पात्रों के हैं, फिर कुपात्र एवं अपात्र हैं। ये सप्तक्षेत्र कब से किस शास्त्रकार ने मान्य किए हैं, इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। इनमें अन्तिम चार क्षेत्र दत्तियों (पात्रदत्ति, समदत्ति, दयादत्ति और अन्वयदत्ति) के नाम से आदिपुराण में भरत चक्रवर्ती ने अवश्य बताए हैं। पुत्र, परिवार को समस्त धन सम्पदा देना तीनलोक के राज्य फलस्वरूप पंचकल्याणरूप फल अर्थात् तीर्थकरपद देता है, ऐसा कुन्दकुन्द या अन्य किसी आचार्य ने नहीं लिखा। सभी मुन्य मरते समय या वैसे भी अपनी धनसंपदा पुत्र परिवार को दे जाते हैं, क्या वे तीर्थकरप्रकृति के फल को पाते हैं? ऐसा कथन कर्मसिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। स्वयं डॉ. देवेन्द्रकुमार जी भी उक्त गाथा से सहमत नहीं दिखते हैं, इसीलिए उन्होंने भावार्थ में ‘पंचकल्लाणफल’ का अर्थ नहीं दिया। उत्तम पात्र मुनि को धन देने के लिए कुन्दकुन्द जैसे निर्ग्रन्थ तपस्वी कैसे कह सकते थे? उनकी गाथाओं में तो मुनि को द्रव्य देना पापमूलक ही बताया गया है।

गाथा संख्या २ में सम्यग्दृष्टि का निम्न स्वरूप बताया है-

पुव्वं जिणेहिं भणियं जहट्टियं गणहरेहिं वित्थरियं ।

पुव्वाइरियक्कमजं तं बोल्लइ सो हु सदिट्ठी ॥ २ ॥

“(जो) पूर्वकाल में सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए, गणधरों द्वारा विस्तारित तथा पूर्वाचार्यों के क्रम से प्राप्त वचन को ज्यों का त्यों बोलता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।”

सम्यग्दृष्टि का ऐसा लक्षण इसी ग्रंथ में मिलता है, अन्यत्र शायद ही मिले।

गृहस्थ के आवश्यक षट्कर्मों में दान का अंतिम स्थान है, किन्तु ‘रयणसार’ के कुन्दकुन्द दान को देवपूजा से भी पहले मुख्य स्थान देते हैं—

दाणं पूया मुख्खं सावयधम्मं ण सावया तेण विणा ॥ १० ॥

श्रावक के षट्कर्तव्यों का क्रम इस प्रकार है— देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। दान का अन्तिम स्थान होते हुए भी स्वाध्याय, संयम, तपादि की सर्वथा उपेक्षा कर दान को प्रथम स्थान देना तथा १५५ गाथाओं के ग्रंथ में दान की व्याख्या एवं प्रशंसा में ३०-३१ गाथाएँ लिखना बताता है कि इस ग्रंथकार को दान अतिप्रिय था। भट्टारकगण नाना प्रकारों से धन संग्रह किया करते थे। षट्कर्तव्यों में दान को मुख्य एवं प्रथम स्थान देना उसका सर्वोच्च फल तीर्थकर पद एवं निर्वाण आदि बताना केवल इसीलिए था कि भक्त लोग उन्हें दान देते रहें।

मेरा आशय यह नहीं है कि दान का कोई महत्त्व नहीं है। श्रावक के कर्तव्यों में उसका अंतिम स्थान है (जो कि तर्कसिद्ध एवं बुद्धिगम्य भी है)। उसको उसके बजाय प्रथम स्थान कैसे दिया गया? इस ग्रंथ में श्रावक के अन्य आवश्यकों, व्रतों, प्रतिमाओं का नामोल्लेख मात्र किया गया है।

इस ग्रंथ की ७वीं गाथा में सम्यग्दृष्टि के चवालीस (संपादक के शब्दों में दूषण) न होना बताया है। २५ दोष, ७ व्यसन, ७ भय एवं अतिक्रमण-उल्लंघन ५ इस प्रकार कुल ४४ दोष बताए गए हैं। परम्परा में सम्यग्दृष्टि के २५ दोषों का उल्लेख तो यथाप्रसंग सर्वत्र मिलता है, किन्तु इन ४४ दोषों का उल्लेख अन्यत्र देखने में नहीं आया। कुन्दकुन्दाचार्य के उत्तरवर्ती किसी आचार्य या टीकाकार ने इनका उल्लेख नहीं किया। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि उक्त आचार्यों के समक्ष यह ‘रयणसार’ न रहा हो। अतिक्रमण-उल्लंघन के ५ अतिचार कौन से हैं, यह भी देखने में नहीं आया। डॉ. देवेन्द्रकुमार ने व्रत नियम के उल्लंघन स्वरूप ५ अतिचार लिखे हैं। १२ व्रतों के ५-५ अतिचार होते हैं, सो वे व्रत-नियम के ५ अतिचार कौन से हैं, यह स्पष्ट किए जाने

की आवश्यकता है।

मुनि के लिये विभिन्न वस्तुओं में ममत्व का निषेध इस प्रकार किया गया है—

वसदी पडिमोवयरणे गणगच्छे समयसंधजाइ कुले ।

सिस्सपडिसिस्सछत्ते सुयजाते कप्पडे पुत्थे ॥ १४४ ॥

पिच्छे संत्थरणे इच्छासु लोहेण कुणइ ममयारं ।

यावच्च अट्टरुहं ताव ण मुंचेदी ण हु सोक्खं ॥ १४५ ॥

(यदि साधु) वसतिका में, प्रतिमोपकरण में, गणगच्छ में, शास्त्र, संघ, जाति, कुल में, शिष्यप्रतिशिष्य छात्र में, सुत-प्रपौत्र में, कपड़े में, पोथी में, पीछी में, विस्तर में, इच्छाओं में, लोभ से ममत्व करता है और जब तक आर्तरीद्र ध्यान नहीं छोड़ता है, तब तक सुखी नहीं होता है।

क्या दिगम्बर जैन साधु कपड़े, प्रतिमोपकरण, विस्तर आदि रखता है, जो उनके प्रति ममत्व का फल बताया गया है। ये गाथाएँ किसी अदिगम्बर द्वारा लिखी हुई हों, तो कोई आश्चर्य नहीं है। उक्त गाथा में प्रयुक्त ‘गण-गच्छ’ का गठन कुन्दकुन्द के बहुत काल बाद हुआ है। उमास्वामी ने अपने सूत्र २४ अध्याय ९ में गणशब्द का प्रयोग उक्त गणगच्छ के अर्थ में नहीं किया है। डॉ. देवेन्द्रकुमार जी ने उमास्वामी के उक्त सूत्र का हवाला देते हुए ‘रयणसार’ को कुन्दकुन्दकृत ही माना है, किन्तु उनके काल में गण या गच्छों का गठन नहीं हुआ, यह तो निश्चित ही है। उत्तरकालीन रचनाओं में ही गण, गच्छ को प्रयोग मिलता है। इसीलिए डॉ.ए.एन. उपाध्ये, डॉ. हीरालाल जी, पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार सदृश अधिकारी विद्वानों ने इस ग्रंथ को कुन्दकुन्द की रचना मानने में संदेह व्यक्त किया है।

ग्रंथकार ने इस रयणसार को न पढ़ने सुनने वाले को मिथ्या दृष्टि बताया है—

गंथमिणं जो ण दिट्ठइ ण हु मण्णइ ण हु सुणोइ ण हु पढइ ।  
ण हु चिंतइ ण हु भावइ सो चेव हवेइ कुट्ठिडी ॥१५४ ॥

“जो व्यक्ति इस ग्रन्थ को नहीं देखता, नहीं मानता, नहीं सुनता, नहीं पढ़ता, चिंतन नहीं करता, भाता नहीं है, वह व्यक्ति ही मिथ्यादृष्टि होता है।”

क्या कुन्दकुन्द जैसे महान् ग्रंथकार इस रचना को न देखने, न पढ़ने, न सुनने, न माननेवाले को मिथ्यादृष्टि बताते? ऐसी गाथा की रचना तो अपने ग्रन्थ की महत्ता दिखाने के लिए भट्टारक ही कर सकते हैं, न कि संसार-त्यागी आत्मसाधना में लीन कुन्दकुन्दाचार्य।

इस ग्रंथ में ऐसी ही अन्य गाथाएँ हैं, जिनका सूक्ष्म

परीक्षण करने से इनमें विषमताएँ एवं विपरीतता मिलेगी।

डॉ. देवेन्द्रकुमार जी ने अपनी प्रस्तावना में इसे कुन्दकुन्दकृत मानने का प्रयास किया है। उन्होंने प्रस्तावना के पृ. ९२ पर 'रचनाएँ' शीर्षक पैरों में लिखा है कि "श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने आचार्य कुन्दकुन्द की २२ रचनाओं का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं।" इस सूची में रयणसार का नाम भी है। इस सूची के साथ रयणसार के सम्बन्ध में श्री मुख्तार साहब का उक्त मत उद्धृत नहीं किया, जिससे पाठक यही समझें कि मुख्तार सा. रयणसार को कुन्दकुन्दकृत ही मानते थे, जब कि वास्तविक स्थिति दूसरी ही है।

डॉ. देवेन्द्रकुमार जी ने 'अनेकान्त' के जनवरी-मार्च ७६ के अंक में 'रयणसार-स्वाध्याय परम्परा में' शीर्षक लेख में लिखा है- "रयणसार नाम की एक अन्य कृति का उल्लेख दक्षिण भारत के भण्डारों की सूची में हस्तलिखित ग्रंथों में किया गया है। श्री दिगम्बर जैन म. चित्तामूर, साउथ आरकाड मद्रास प्रांत में स्थित शास्त्रभंडार के क्रम सं. ३९ में प्राकृत भाषा के रयणसार ग्रन्थ का नामोल्लेख है और रचयिता का नाम वीरनन्दी है, जो संस्कृत टीकाकार प्रतीत होते हैं। इस टीका की खोज करनी चाहिए।" समझ में नहीं आया कि डॉक्टर साहब ने ग्रंथ को बिना देखे ही कैसे मान लिया कि वीरनन्दी संस्कृत-टीकाकार प्रतीत होते हैं, जबकि उन्होंने स्वयं सूची में रचयिता के स्थान पर वीरनन्दी का नाम स्पष्ट लिखा हुआ बताया है। चूँकि प्रति सामने नहीं है, अतः अन्य

कल्पना करना ठीक नहीं है। फिर भी प्राप्त सूचनानुसार सूची में प्राकृत भाषा के रयणसार के कर्ता का नाम वीरनन्दी हैं, न कि कुन्दकुन्द। जब तक इसे गलत सिद्ध नहीं किया जावे, इस सूची के वर्णन को सही मानना समीचीन होगा। मध्यकाल में वीरनन्दी हुए हैं, उन्होंने आचारसार लिखा था, सम्भव है रयणसार भी उन्हीं का लिखा हुआ हो।

विद्वान् सम्पादक डॉ. देवेन्द्रकुमार जी ने इसकी कई गाथाएँ प्रक्षिप्त बतलाकर मूल ग्रन्थ से अलग प्रस्तुत की हैं, फिर भी ग्रन्थ में कुछ गाथाएँ ऐसी और हैं, जिन पर क्षेपक लिखा हुआ है, अतः इसके मूल अंश और क्षेपकांश का निर्णय हो पाना सहज नहीं है।

अतः अंतरंग-बहिरंग परीक्षण से यह ग्रन्थ वीतराग परम तपस्वी दिगम्बर कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा लिखा हुआ नहीं मालूम होता, अपितु किसी भट्टारक या और किसी द्वारा उनके नाम पर लिखा हुआ प्रतीत होता है।

विद्वानों से मेरा नम्र अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ का सम्यक् प्रकार से तुलनात्मक अध्ययन कर अपना मन्तव्य प्रस्तुत करें, ताकि लोगों को सही स्थिति ज्ञात हो जावे।

१. इसमें विषयों का व्यवस्थित वर्णन नहीं है। दान, सम्यग्दर्शन, मुनि, मुनिचर्या आदि का क्रमशः वर्णन न होकर कभी दान का, कभी सम्यग्दर्शन का, कभी पूजन का, कभी मुनि का वर्णन इधर उधर अप्रासंगिक रूप से असंबद्ध रूप से मिलता है।

'जैन सन्देश' शोधांक ३९, भाग संख्या ५०  
२३.२.१९७८ से साभार

## बुन्देलखण्डी भजन

तुमने जानो ना रतन को मोल, हिरा दव हीरा ककरन में

1

लेकर जनम गरभ से बाहर, जबसे जनम मरण में आयो  
उलझ गयो झगड़ों के बीचाँ बिरथा जनम गँवायो।  
मुख से बोले ना साँचे बोल, हिरा दव हीरा ककरन में  
तुमने जानो ना रतन को मोल, हिरा दव हीरा ककरन में ॥

2

नसा दई कंचन सी काया कर-कर करनी खोटी  
अपनो खोटो दाम होय तो परखइये का खोरी।  
अपने मन की किवरिया खोल हिरा दव हीरा ककरन में  
तुमने जानो ना रतन को मोल, हिरा दव हीरा ककरन में ॥

3

अवसर चूक न जावो भैया कर लो ठीक ठिकानो  
औरन के गुण परखत भैया खुद के भी पहचानो।  
मुख से बोले न साँचे बोल हिरा दव हीरा ककरन में  
तुमने जानो ना रतन को मोल, हिरा दव हीरा ककरन में ॥

4

विद्यासागर बार-बार समझावें चेतन चेतो प्राणी  
जो अवसर गव निकर तो भैया फिर होगी पछतानी।  
इस चौरासी योनी में मत डोल हिरा दव हीरा ककरन में  
तुमने जानो ना रतन को मोल, हिरा दव हीरा ककरन में ॥

प्रस्तुति-मीनादेवी जैन  
ओसवाली मोहल्ला, मदनगंज-किशनगढ़ (राज.)

# धर्म एवं संस्कृति-संरक्षण का दायित्व

स्व. डॉ. ज्योतिप्रसाद जी जैन, लखनऊ

आचार्य प्रवर जिनसेन स्वामी (८३७ ई.) के अनुसार 'इति इह आसीत्'— यहाँ ऐसा घटित हुआ— इस प्रकार की घटनावाला एवं कथानकों का निरूपण करनेवाला साहित्य 'इतिहास', 'इतिवृत्त' या 'ऐतिह्य' कहलाता है। परम्परागत होने से वह 'आम्नाय', प्रमाण पुरुषों द्वारा कहा गया या निबद्ध होने से 'आर्ष', सत्यार्थ का निरूपक होने से 'सूक्त' और धर्म अर्थात् हेयोपादेय विवेक या पुण्य प्रवृत्तियों का प्रतिपादक एवं पोषक होने के कारण 'धर्मशास्त्र' कहलाता है।<sup>१</sup> इस प्रकार इस परिभाषा में इतिहास के तत्त्व, प्रकृति, तथा उसके सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक सभी अंगों का समावेश हो जाता है। आज इतिहास का जो विशद, व्यापक अर्थ ग्रहण किया जाता है, उक्त पुरातन जैनाचार्य को भी वह अभिप्रेत था।

इतिहास, विशेषकर प्राचीन भारतीय इतिहास का आशय भारतीय संस्कृति का यथासम्भव सर्वांग इतिवृत्त है, जिसके अन्तर्गत विवक्षित युग में देश में प्रचलित विभिन्न धर्मों, दर्शनों, समुदायों तथा तत्तद् संस्कृतियों— साहित्य, कला, आचार-विचार, लोक जीवन आदि के विकास का इतिहास समाविष्ट होता है।

जैनपरम्परा भारतवर्ष की, सुदूर अतीत से चली आई, पूर्णतया देशज, सनातन एवं पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक धारा है। उसके सम्यक्ज्ञान के बिना भारतीय संस्कृति के इतिहास का ज्ञान अधूरा और अपूर्ण रहता है।

ऋषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस निर्ग्रन्थ-श्रमण अर्हंत-केवलि-तीर्थंकर जिनेन्द्रों द्वारा स्वयं जानी गई, अनुभव की गई, आचरण की गई और बिना किसी भेदभाव के 'सर्वसत्त्वानां हिताय, सर्वसत्त्वानां सुखाय' उपदेशित एवं प्रचारित धर्म व्यवस्था का ही नाम जैनधर्म है। उसके अनुयायी जैन या जैनी, श्रमणोपासक अथवा श्रावक कहलाते हैं। इस निवृत्तिमूलक एवं अहिंसाप्रधान आध्यात्मिक परम्परा द्वारा पल्लवित-पोषित संस्कृति ही जैनसंस्कृति है।

**प्राचीनता**— इस परम्परा के मूलस्रोत प्रागैतिहासिक पाषाण एवं धातु-पाषाण युगीन आदिम मानव सभ्यताओं की

जीववार प्रभृति मान्यताओं में खोजे गये हैं, सिन्धु उपत्यका में जिस ताम्राश्मयुगीन प्रागैतिहासिक नागरिक सभ्यता के पुरा अवशेष प्राप्त हुए हैं, उसके अध्ययन से एक संभावित निष्कर्ष यह निकाला गया है कि उस काल और क्षेत्र में वृषभ-लांछन, दिगम्बर, योगिराज, ऋषभ की पूजा-उपासना प्रचलित थी। उक्त सिन्धुघाटी सभ्यता को प्राग्वैदिक एवं अनार्य ही नहीं, प्रागार्य भी मान्य किया जाता है, सुविधा के लिये उसे बहुधा द्राविडीय संस्कृति कह दिया जाता है। वैदिकपरम्परा के आद्यग्रन्थ स्वयं ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर ऋषभदेव के आदरपूर्वक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष उल्लेख हुए हैं। स्पष्ट नामोल्लेखों के अतिरिक्त, वैदिक संहिताओं में प्राप्त अर्हन्, केशी, वातरशनामुनि आदि शब्द ऋषभदेव के लिये ही प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं। भृत्, सत्य, अहिंसा, सदाचार आदि शब्द उनकी विशिष्ट मान्यताओं या प्रस्थापनाओं के और श्रमण, मुनि, यति आदि शब्द उनके अनुसर्त्ताओं के सूचक हैं। वैदिक उल्लेखों या संकेतों का विशदीकरण तथा स्पष्टीकरण पुराणग्रन्थों में किया गया माना जाता है और भागवत, विष्णु, मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड आदि प्रमुख ब्राह्मणीय पुराणों में परमेश्वर विष्णु के अष्टमावतार के रूप में जिन 'नाभेय ऋषभदेव' का वर्णन हुआ है, वे ऋग्वेदादि में उल्लिखित ऋषभ ही हैं, इस विषय में प्रायः कोई सन्देह नहीं किया जाता। इन वर्णनों में और जैन पौराणिक अनुश्रुतियों में उपलब्ध प्रथम तीर्थंकर, आदिदेव, नाभिनन्दन, ऋषभ के वर्णनों में ऐसा अद्भुत सादृश्य है, जो इस तथ्य को असंदिग्ध बना देता है कि दोनों ही परम्पराओं में अभिप्रेत पुराणपुरुष ऋषभदेव अभिन्न हैं, जो अन्तर है वह इस कारण है कि प्रत्येक परम्परा ने उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को अपने अपने रंग में रँगने का प्रयत्न किया है।<sup>१</sup>

**ऐतिहासिक पृष्ठभूमि**— पाषाणकालीन प्रकृत्याश्रित असभ्ययुग (भोगभूमि) का अन्त करके ज्ञान-विज्ञान-संयुक्त कर्म-प्रधान मानवी सभ्यता का जनक इन आदि तीर्थंकर ऋषभ को ही माना जाता है। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत ही इस क्षेत्र के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् थे और उन्हीं के नाम पर यह



महादेश भारत या भारतवर्ष कहलाया। यह जैन पौराणिक अनुश्रुति वैदिक साहित्य एवं ब्राह्मणीय पुराणों से समर्थित है।<sup>३</sup> ऋषभ के उपरान्त समय-समय पर जो अन्य तेईस तीर्थंकर हुए, उन्होंने उसी सदाचारप्रधान योगमार्ग एवं आत्मधर्म का पुनः पुनः प्रचार किया और जैनसंस्कृति का पोषण किया। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में अयोध्यापति रामचन्द्र हुए, जिन्होंने श्रमण-ब्राह्मण उभय संस्कृतियों के समन्वय के लिये भागीरथ प्रयत्न किया, अत एव दोनों ही परम्पराओं में परमात्मरूप में उपास्य हुए।<sup>४</sup> इक्कीसवें तीर्थंकर नमि विदेह के जनकों के पूर्वज, मिथिलानरेश थे, जो उस अध्यात्मिक परम्परा के संभवतया आद्य प्रस्तोता थे, जिसने जनकों के प्रश्रय में औपनिषदिक आत्मविद्या के रूप में विकास किया।<sup>५</sup> बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) नारायण कृष्ण के तारुजात भाई थे। ये दोनों ही जैनपरम्परा के शलाका पुरुष हैं और दोनों ही भारत युद्ध के समसामयिक, ऐतिहासिक नरपुंगव हैं। अरिष्टनेमि ने श्रमणधर्म के पुनरुत्थान का नेतृत्व किया, तो कृष्ण ने उभय परम्पराओं के समन्वय का स्तुत्य प्रयत्न किया।<sup>६</sup> तेइसवें तीर्थंकर पार्श्व (८७७-७७७ ई.पू.) काशी के उरगवंशी राजकुमार थे और श्रमणधर्म-पुनरुत्थान-आन्दोलन के सर्वमहान् नेता थे। संभवतया इसी कारण अनेक आधुनिक इतिहासकारों ने तीर्थंकर पार्श्व को ही जैनधर्म का प्रवर्तक मान लिया। इसमें सन्देह नहीं कि पार्श्वनाथ अपने समय के सर्वमान्य महापुरुष थे।<sup>७</sup> बौद्ध साहित्य में निगंठनातपुत्र (निग्रन्थ ज्ञातपुत्र) के नाम से उल्लेखित अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर (५९९-५२७ ईसापूर्व) बुद्धादिक महामानवों के उस महायुग में उत्पन्न सर्वोपरि महामानव थे, जिनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व ऐतिहासिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। श्रमण-पुनरुत्थान-आन्दोलन सफलतापूर्वक निष्पन्न हुआ, उसका अधिकांश श्रेय भगवान महावीर को है। जैनसंघ का पुनर्गठन करके जैनधर्म को जो रूप उन्होंने प्रदान किया, वही गत अढ़ाई सहस्र वर्षों के जैनसंस्कृति के विकास के इतिहास का मूलाधार रहा है।<sup>८</sup>

भगवान् के निर्वाणोपरान्त उनकी शिष्यपरम्परा के साधु-साधवियों ने उनके सन्देश को देश के कोने-कोने में प्रसारित किया। उनकी ८वीं पीढ़ी में श्रुतकेवली भद्रबाहु के समयपर्यन्त महावीर का संघ प्रायः अविच्छिन्न रहा, किन्तु

द्वादशवर्षीय भीषण दुष्काल के कारण वे आचार्य संघ के एक बड़े भाग सहित दक्षिणापथ को विहार कर गये, जहाँ कर्णाटक, पुन्नाट आदि प्रदेशों में जैनधर्म के अनेक सुदृढ़ केन्द्र विकसित हुए। भद्रबाहु के आम्नायशिष्य मगधसम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी गुरु का अनुगमन करके कर्णाटकदेशस्थ कटवप्र नामक पर्वत पर अन्तिम जीवन जैनमुनि के रूप में व्यतीत किया था।<sup>९</sup>

दुष्काल की अवधि में जो साधु उत्तरापथ में ही बने रहे, वे स्वभावतः परिस्थितिजन्य शिथिलाचार से अपनी रक्षा न कर सके। मालवा, गुजरात प्रभृति पश्चिमी प्रदेश उनके केन्द्र बनते गये। आचार-विचार की दृष्टि से उन दक्षिणी और पश्चिमी शाखाओं के बीच मतभेद की खाई बढ़ती गई, जिसने कालान्तर में प्रथम शती ई० के अन्तिम पाद में दिगम्बर-श्वेताम्बर-सम्प्रदाय-भेद को जन्म दिया। एक तीसरी शाखा का केन्द्र शूरसेन देश की महानगरी मथुरा रही, जो विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों एवं जातियों का भी चिरकाल तक महत्वपूर्ण संगमस्थल बनी रही। मथुरा के जैनसंघ ने उपर्युक्त दोनों शाखाओं के बीच समन्वय करने के स्तुत्य प्रयत्न किये। उन्होंने उस महान् सारस्वत-आन्दोलन का नेतृत्व एवं प्रचार किया, जिसके परिणामस्वरूप गुरु-शिष्य परम्परा में मौखिक द्वार से प्रवाहित एवं संरक्षित द्वादशांगुश्रुतरूप जिनागम के अधिक महत्वपूर्ण अंशों का पुस्तकीकरण तथा पुस्तकसाहित्य-प्रणयन का प्रवर्तन हुआ।<sup>१०</sup>

तदनन्तर, दिगम्बर एवं श्वेताम्बर उभय सम्प्रदायों का प्रायः स्वतन्त्र विकास प्रारम्भ हुआ, संघभेद होते रहे, नये-नये सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय बनते रहे, आचार-विचार में भी देश-कालानुसार परिवर्तन होते रहे, साम्प्रदायिकता बढ़ती गई तथापि जैनसंस्कृति का सर्वतोमुखी संवर्द्धन-परिवर्द्धन भी होता रहा। कभी-कभी और कहीं-कहीं पर्याप्त उत्थान-पतन भी हुए। प्रभूत राज्याश्रय और जनसामान्य का समर्थन प्राप्त हुआ, तो सम्प्रदायिक विद्वेष और अत्याचार का शिकार भी होना पड़ा। प्रथम-द्वितीय शती ई० से लेकर १८ वीं शती ई० पर्यन्त उत्तरभारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में जैनधर्म का विशेष उत्कर्ष एवं प्रभाव रहा, यों राजस्थान के विभिन्न राज्यों, मध्यभारत, विदर्भ, गुजरात और कर्णाटक जैनसंस्कृति के प्रमुख गढ़ रहे हैं। देश के प्रायः प्रत्येक नगर, राजधानी,

शासन केन्द्र, व्यापार एवं व्यवसाय केन्द्र में जैन धर्मानुयायी सदैव अल्पाधिक संख्या में पाये जाते रहे हैं। अपनी शिक्षा-दीक्षा सामान्य समृद्धि और धर्मप्रेम के कारण वे धर्म-दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-कला, आचार-विचार, प्रायः सभी क्षेत्रों में अपनी स्पृहणीय सांस्कृतिक बपौती का संरक्षण करते आये हैं। सम्पूर्ण देश की भावनात्मक एकता के सम्पादन में, स्वातन्त्र्य संग्राम में तथा राष्ट्र के स्वातन्त्र्योत्तर पुनर्निर्माण में उनका यथोचित एवं महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

**वर्तमान स्थिति** - चौबीस तीर्थंकरों द्वारा अनुप्राणित, अनगिनत आचार्यपुंगवों, योगीश्वर मुनिराजों, आर्यिका-सतियों और धर्मप्राण श्रावक-श्राविकाओं द्वारा चिरपोषित-संरक्षित यह धर्मपरम्परा आज दुर्योग से एक अत्यन्त विषम दौर से गुजर रही है। उसके सभी सम्प्रदायों-उपसंप्रदायों की सामाजिक दशा प्रायः समान है। दिगम्बरसमाज पर दृष्टिपात करते हैं, तो पिछले कई सौ वर्षों की अपेक्षा इस युग में दिगम्बरमुनियों, जिनमें दर्जनों आचार्यपद-विभूषित हैं, आर्यिकाओं और अन्य त्यागियों की संख्या शायद पचास-गुनी अधिक है। पंडित, विद्वान्, वक्ता, लेखक, पत्रकार सामाजिक कार्यकर्ता और विविध संस्थाएँ भी अनगिनत हैं। धार्मिक समारोह एवं उत्सव भी आये दिन विशाल पैमाने पर यत्र-तत्र होते रहते हैं। तथापि, समाज में आचार-विचार की भयंकर शिथिलता, वैमनस्य, फूट और विघटन, धर्मभाव का उत्तरोत्तर ह्रास, और धर्म एवं संस्कृति के प्रति एक अजीब उदासीनता, उपेक्षा, अवहेलना, बल्कि विमुखता वृद्धिगत लक्षित हो रही है। धर्म, संस्कृति एवं समाज के सच्चे, निःस्वार्थ, निःस्पृह एवं उत्साही सेवियों की अत्यन्त विरलता होती जा रही है। बहुधा ऊपरी वैचारिक मतभेद-जन्य अखाड़े जम रहे हैं और विद्वान् कहे जाने वालों में भी अपशब्दों का विनिमय जोर-शोर से चल रहा है। स्वार्थपरता, ईर्ष्या-द्वेष, मद-मात्सर्य, भोगप्रवृत्ति और धनोपासना का बोलबाला है। ऐसा क्यों हो रहा है? इसके लिए कौन जिम्मेदार है?

साधुवर्ग, विद्वान् पंडितों, संस्थाओं और धर्मोत्सवों की अभूतपूर्व भारी भीड़ के देखते तो स्थिति इसके विपरीत होना चाहिए थी, किन्तु हो यह रहा है कि जिन मंदिरों में दर्शन-पूजन करनेवालों की संख्या दिन-प्रतिदिन घट रही है। पर्व आदि अवसरों को छोड़कर शास्त्रसभाएँ अब प्रायः नहीं होती हैं, जो कहीं होती भी हैं तो श्रोताओं की संख्या अत्यल्प

रहती है। स्वाध्याय का यदि कदाचित् कहीं कुछ प्रचार बढ़ा है, तो उसका प्रयोग पारस्परिक वाद-विवाद और उठापटक में होता है। विद्वत्सभाओं और पत्र-पत्रिकाओं में भी अपशब्दों का विनिमय खुलकर होता है। बच्चों में धार्मिक शिक्षा और संस्कार डालने की जो व्यवस्थाएँ थीं, वे समाप्त हो रही हैं। जो धार्मिकमन्य हैं, उन्होंने भी धर्म को ऐहिलोकिक कामनाओं की पूर्ति और मानकषाय के पोषण का साधन बना लिया है। धर्म भी एक व्यवसाय बन गया है। कतिपय पुरानी कुप्रथाएँ यदि टूटी हैं, तो अनेक नवीन एवं अधिक निकृष्ट कुप्रथाओं का वेग बढ़ रहा है। पश्चिमी सभ्यता और अंग्रेजी शिक्षा के दुष्प्रभाव को कोसनेवाली बात पुरानी पड़ गई और तथ्यहीन है। भोगपरायणता और स्वार्थपरता इतनी बढ़ गई है कि प्रायः सब धार्मिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्य तिरोहित होते जा रहे हैं। अपने विशिष्ट आचार विचार के लिए जैनों की जो सार्वजनिक प्रतिष्ठा थी वह समाप्तप्राय है।

क्या इस वस्तुस्थिति की जिम्मेदारी विद्वत्परिषद् जैसे शास्त्रज्ञ पंडितों के संगठन पर नहीं आती? कम से कम इस विषय में सन्देह नहीं है कि समाज-शरीर में जीर्ण रोगों के जो प्राणाघातक कीटाणु द्रुतवेग से प्रवेश करते जा रहे हैं, उनका समुचित निराकरण एवं सम्यक् उपचार विद्वत्परिषद् जैसे संगठन ही कर सकते हैं, बशर्ते कि वे वैयक्तिक स्वार्थों एवं मानापमान की भावनाओं के ऊपर उठकर उक्त दोषों एवं त्रुटियों के प्रति जागरूक हों और उनके निराकरण के लिये सामूहिक रूप से कटिबद्ध हो जायँ। यदि ऐसा नहीं होता है, तो वह दिन दूर नहीं है, जब इस महान् संस्कृति के सच्चे अनुयायी ढूँढ़े नहीं मिलेंगे। विद्वान् गृहस्थों का भी मार्गदर्शक होता है और त्यागियों का भी, किन्तु तभी, जब उसकी स्वयं की दृष्टि समीचीन हो और धर्म, संस्कृति एवं समाज के लिये उसके हृदय में तड़प हो, अपने तुच्छ स्वार्थों का त्याग करके जब वह उनके हित में सामूहिक रूप से तत्पर हो जाये। अपनी अमूल्य सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण एवं संवर्द्धन की जिम्मेदारी विद्वानों पर ही है।

### सन्दर्भ

- इतिहास इतीष्टं तद् इति हासीदिति श्रुतेः।  
इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नायं चामनन्ति तत् ॥ २४ ॥  
ऋषिप्रणीतमार्षं स्यात् सूक्तं सूनुत शासनात्।  
धर्मानुशासनाच्चेदं धर्मशास्त्रमिति स्मृतम् ॥ २५ ॥

आदिपुराण, सर्ग १।

२. डॉ. हीरालाल जैन - भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ ११-१९।  
डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन- जैनजन्म दी ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन, पृष्ठ ४०-४६, भारतीय इतिहास: एक दृष्टि, पृ. २१-२९, रिलीजन एण्ड कल्चर आफ दी जैन्स, पृ. १-६, ९-१०, जैनजन्म थू दी एजेज आदि।
३. स्वामी कर्मानन्द - भारत का आदि सम्राट् तथा भरत और भारत, ज्यो. प्र. जैन-भारतीय इतिहास : एकदृष्टि, पृ. २४।
४. वही, पृ. ३२।
५. डॉ. हीरालाल जैन, वही, पृ. १९-२०।
६. ज्यो. प्र. जैन- युग-युग में जैन धर्म, तथा भारतीय इतिहास : एकदृष्टि, पृ. ३३, ४२-४५।

७. वही, पृ. ४५-५० रिवाइवल आफ श्रमणधर्म इन लेटर वेदिक एज ( जैन जर्नल. १९७१-७२)।
८. वही, भगवान महावीर : हिज टाइम्स, लाइफ एण्ड टीचिंग्स। भारतीय इतिहास, एक दृष्टि, पृ. ५०, ५४-५९।
९. वही, पृ. ८८-८९, प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष एवं महिलाएँ, पृ. ३४-४४।
१०. दी जैना सोर्सज आफ दी हिस्टरी आफ एन्शेन्ट इण्डिया, पृ. १००-११९।

‘श्री आदिनाथ जिनेन्द्र बिम्ब प्रतिष्ठा महोत्सव  
मदनगंज-किशनगढ़ ( राज. ) १९७९ ई.  
स्मारिका’ से साभार

## आचार्यश्री के दर्शन कर अभिभूत हुए योगगुरु बाबा रामदेव

“मैं यहाँ प्रवचन करने नहीं, योग सिखाने नहीं, आचार्यश्री के दर्शन करने आया हूँ। भारतीय शास्त्रों में वर्णित, लिखित बातें अकाट्य सत्य हैं। उन शास्त्रों में वर्णित ऋषियों की परम्परा के संवाहक आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज इसके प्रमाण हैं। दिगम्बरत्व वैराग्य की पराकाष्ठा है। आधुनिक युग में वीतराग स्वरूप के साथ त्याग, साधना, संयम धारण करनेवाले आचार्यश्री जगतपूज्य हैं। सम्पूर्ण भारतवर्ष में अनेक संत हैं, लेकिन आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज निर्विवाद संत हैं। आचार्यश्री का व्यक्तित्व-कृतित्व सहज ही श्रद्धालुओं को अपनी ओर आकर्षित करता है” उक्त उद्गार सुप्रसिद्ध योगगुरु बाबा रामदेव जी महाराज ने दयोदय पशु संवर्धन एवं पर्यावरण केन्द्र तिलवाराघाट जबलपुर (म.प्र.) में विश्ववन्दनीय दिगम्बराचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज के दर्शनोपरान्त व्यक्त किये।

योगगुरु बाबा रामदेव ने कहा कि “सभ्यता के विनाश के साधन तो पश्चिमी देशों ने जुटा लिये हैं, परन्तु विकास के लिये आध्यात्म की आवश्यकता है, संतो की आवश्यकता है। व्यक्ति जन्म से दिगम्बर होता है और मृत्यु के समय दिगम्बर होता है। दिगम्बरत्व प्राकृतिक अवस्था है। इस अवस्था में साधना करना तपस्या की पराकाष्ठा है। जबलपुर का सौभाग्य है कि इस युग में ऐसे परम तपस्वी संत का प्रवास यहाँ हो रहा है। आचार्यश्री के द्वारा दीक्षित साधु उच्चशिक्षा प्राप्त हैं और मोक्ष की ओर उन्मुख हैं।

इसके पूर्व स्वामी रामदेव जी दयोदय स्थित प्रतिभा स्थली ज्ञानोदय विद्यापीठ का अवलोकन करने पहुँचे, जहाँ प्रतिभा स्थली की नन्ही छात्राओं ने बाबा रामदेव के सामने योग आसनों का प्रदर्शन किया। इतनी छोटी उम्र में योग की कुशलता देख बाबा प्रफुल्लित हो उठे और तालियाँ बजाकर छात्राओं का उत्साहवर्धन किया।

योगगुरु स्वामी रामदेव दयोदय तीर्थ पहुँचकर सीधे आचार्य श्रीविद्यासागर जी महाराज के कक्ष में पहुँचे। आचार्य श्री के चरणों का स्पर्श कर स्वामी रामदेव जी बैठ गये। फिर धर्मगुरु और योगगुरु के बीच चर्चाओं का दौर चला। लगभग एक घंटा बीस मिनट तक आचार्यश्री ने बाबा रामदेव की धर्म-अध्यात्मविषयक गूढ़ जिज्ञासाओं का समधान किया।

जयकुमार जैन 'जलज'  
हटा ( दमोह ) म.प्र.

# सल्लेखना : अंतिम अवस्था में आत्मशोधन का तप

कैलाश मडबैया

मृत्यु के पूर्व आत्मा पर चढ़े सांसारिक मैल को तपाकर परिमार्जित करने को सँथारा धर्म कहते हैं। पर क्या मौज है कि इन दिनों हजारों वर्ष प्राचीन भारतीय संस्कृति की उस गौरव-परम्परा पर ही विवाद हो रहा है (संवाद नहीं), जब कि इसका सीधा अर्थ होता है जीवन की अंतिम अवस्था में, वीतरागी बन, तपःरत हो, आत्मशोधन करना और निर्विकार हो समाधिस्थ होना। यह न असमय मृत्यु है, न आत्महत्या, वरन् आध्यात्मिक वीरता है, जो हर एक को बिना विवेक/तप के संभव भी नहीं होती। समाधि की इस आध्यात्मिक प्रक्रिया में दरअसल कहीं आवेश या राग-द्वेष को जगह नहीं होती, पर इसकी तुलना इन दिनों सतीप्रथा और आत्महत्या से की जा रही है, जब कि सतीप्रथा में पति से राग के भावावेश में, आग में कष्टपूर्वक तुरन्त मरने का निर्णय लिया जाता है और आत्महत्या में जीवन से द्वेष या नफरत होने के कारण हताश होकर असमय, तड़प कर जीवन खोया जाता है। पर सँथारा या समाधिमरण बिल्कुल दूसरी बात है, इसका आधार आवेश है ही नहीं, इसमें राग-द्वेष किंचित् भी नहीं होता, यह तो स्वतः आयी हुई मृत्यु का विवेकपूर्वक, तपःरत हो वरण मात्र है। इसमें मौत की कामना नहीं होती, जीवन का मोह त्यागा जाता है। यह निश्चित करना कि लक्ष्यप्राप्ति के लिये हमें किस मार्ग से जाना है, प्रत्येक आत्मा का अधिकार है। मुझे दुखी होकर मृत्युवरण करना है? या सम्यक्ज्ञान से आनन्दित हो आत्मशोधन कर महाप्रस्थान करना है, जिससे पर भव भी सुखमय हो? यह निर्णय करना आत्मा का अधिकार है। क्या यह सच नहीं है कि हम दो-चार दिन की यात्रा के लिये निकलते हैं, तो पूर्ण तैयारी करते हैं, फिर मृत्यु तो महाप्रस्थान है, क्या इसकी समुचित तैयारी हमें नहीं करनी चाहिए? मृत्यु तो जन्म की तरह अवश्यंभावी है। पर, जैनधर्म में जीवन की तरह मृत्यु की कला भी सिखाई जाती है। यदि पुनर्जन्म मान्य है, तो विज्ञान भी सहमत है कि मृत्यु के समय में बने संस्कार या विचार दूसरे जन्म में, जीस के द्वारा मात्र स्थानांतरित होते हैं। अतः सभी चाहते हैं कि मृत्यु के समय विवेकपूर्ण निर्मल भाव रहें। पर यह सहज तो नहीं होता। इसके लिये या तो सम्पूर्ण मनुष्यजीवन सत्कार्यों में जिया जाये, जो वर्तमान परिस्थितियों में प्रायः

संभव नहीं होता, इसलिये जीवन की अंतिम अवस्था में मन को निर्मल बना, वीतराग होने के प्रयास किये जायें। जैनधर्म में जीवन के अंतिम समय की इस तपस्या को दिगम्बर सल्लेखनापूर्ण समाधि लेना और श्वेताम्बर सँथारा कहते हैं, जो वस्तुतः जीवन की तरह मृत्यु की एक सम्यक् कला है। यह ज्ञानपूर्वक किसी सक्षम गुरु से दीक्षा लेकर व्रत / संकल्प के साथ सम्पन्न की जाती है। इसमें गुरु की आज्ञानुसार आहार-जल का क्रमशः त्याग किया जाता है।

यह आवश्यक नहीं कि सँथारा में मृत्यु तुरन्त हो जाये। जीवन चलता रहता है साधना में, ज्ञानानन्द में! अतः इसकी तुलना आत्महत्या या सतीप्रथा से नहीं की जा सकती। अब आप कह सकते हैं कि सँथारा का अंत तो मृत्यु से ही होता है, तो यह बतायें कि किस जीवन का अंत मृत्यु से नहीं होता है? जब सैनिक युद्ध में लड़ता है, तो वह भी मृत्यु को ही गले लगाता है, पर उसे शहीद कहते हैं, फिर सँथारा में भी तो श्रावक, जीवन-संग्राम में रत रहता है, तो उसे आत्मघात क्यों कहा जायेगा? अतः समाधिमरण जीवन के अंतिम समय में आनन्द और विवेक से आत्मशोधनपूर्ण सम्यक् समाधि है।

महाराजा भर्तृहरि, स्वामी रामतीर्थ, आचार्य बिनोवा भावे आदि ने ऐसी ही सल्लेखना द्वारा समाधि ली थी। स्वयं महात्मा गाँधी ऐसे तप का समर्थन करते थे। यह अलग बात है कि उन्हें ऐसे प्रयोग का अवसर नहीं मिला।

पर देखिये, इलैक्ट्रॉनिक मीडिया पर कैसे इन दिनों सल्लेखना की बखिया उधेड़ी जा रही है। लोकतंत्र में विचारों की अभिव्यक्ति-स्वतंत्रता जितनी सराहनीय है, उतनी ही आलोच्य हो जाती है, जब वह व्यावसायिक और पूर्वाग्रहग्रस्त हो। किसी की समीक्षा उचित हो सकती है, पर गाली देना अपराध है। किसी की धार्मिक भावनाओं को अकारण आहत करना भी उचित नहीं कहा जा सकता है। एक चैनल पर कुछ दिन पहले सँथारा पर जैन संत आचार्य महाप्रज्ञ का साक्षात्कार चैनल के प्रमुख द्वारा ही लिया जा रहा था। यह तो शुक्र था कि महाप्रज्ञ महाराज इण्टरव्यू देने को तैयार हो गये, क्योंकि सामान्यतः जैन संत प्रचार-प्रसार से दूर, किसी अनावश्यक वाद-विवाद में कभी नहीं पड़ते। यह अलग

बात है कि उनके प्रवचनों को कोई सहज ही रिकार्ड कर ले। खैर, महाप्रज्ञ जी प्रश्नों का उत्तर दे रहे थे और आदतन ऐंकर महोदय थोड़ी ही देर में अपनी औकात पर आकर उन्हें छोड़ने लगे, फिर भी आचार्य श्री विचलित हुये बिना, जवाब देते रहे और हमें लगा कि ऐंकर जी संतुष्ट हो गये।

हम श्रोतागण भी संथारा पर हुए इस सवाल-जवाब से प्रभावित हुए थे। पर इससे ऐंकर को लगा कि मात्र संतोष कैसे बिकेगा चैनल पर? अतः वह अपनी ही तरफ से बोलने लगा- “मुनिवर ने समाधान तो किया, पर ऐसी मौत

को उचित कैसे कहा जा सकता है?” हम सभी विस्मित हुए कि यदि चटपटी चर्चा नहीं हुई और संथारा आध्यात्मिक तप की वीरता ही बहस में सिद्ध हुआ है, आत्महत्या नहीं, तो जबरन इस मुद्दे को विवादित बनाना क्या आवश्यक है?

मात्र इसलिये कि अहिंसक जैन आपके साथ बलवा, तोड़-फोड़ नहीं करते, तो उन्हें अनावश्यक आहत किया जाता रहे? वरना इसका मजा तो तब मालूम पड़े, जब किसी अन्य कट्टर कौम को इस तरह छोड़ा जाय।

75, चित्रगुप्त नगर, कोटरा, भोपाल

## समाधि-भक्ति ( प्रिय भक्ति )

मुनि श्री सुव्रतसागर जी

नित आतम संवेदन मय प्रभु, श्रुत-नयनों से मैं लखकर।

केवलज्ञान-चक्षु से मण्डित, देख रहा हूँ अब जिनवर ॥ 1 ॥

सदा शास्त्र अभ्यास करूँ मैं, सन्त समागम प्रभु वंदन।

सज्जन के गुणगान करूँ अरु, दोष-कथन में मौन-वचन ॥ 2 ॥

सबसे हित-मित प्रिय मैं बोलूँ, आत्मतत्त्व को नित ध्याऊँ।

जब तक मुझको मिले मोक्ष ना, भव-भव में बस ये पाऊँ ॥ 3 ॥

जिन-पथरुचि हो पर से विरक्ति, निर्मल जिनवाणी ध्याऊँ।

रहे भावना जिनगुणश्रुति में, जनम-जनम में यह पाऊँ ॥ 4 ॥

चैत्य, घोष-सिद्धांत-सिंधु हो, यति समूह गुरु-चरण जहाँ।

हो संन्याससहित नित मेरा, जनम-जनम में मरण वहाँ ॥ 5 ॥

जनम करोड़ों में संचित, जो जनम-जरा-मृति का कारण।

किये पाप जो जनम-जनम में, जिन वन्दन से हों वारण ॥ 6 ॥

सेवक जन को कल्पवेलसम, श्रीजिनपद की कर सेवा।

बाल-दशा से अब तक बीता, मम जीवन हे जिनदेवा ॥ 7 ॥

अब उसका फल यह चाहूँ मैं, मरण-समय मेरा जब हो।

कण्ठ आपके नाम-शब्द के पढ़ने में अवरुद्ध न हो ॥ 8 ॥

जब तक मैं निर्वाण न पाऊँ, तब तक जिनवर यह रटना।

तब चरणों में मम हिय थित हो, मेरे हिय में तव चरणा ॥ 9 ॥

जिन-भक्ती ही जिन-भक्तों की, दुर्गति हरनेवाली है।

पुण्य-पूर्ण दे, मुक्ति रमा दे, यह सबसे बलशाली है ॥ 10 ॥

शेष अगले पृष्ठ पर

## समाधिभक्ति ( प्रियभक्ति )

पाँच अरिंजय पाँच यशोधर, पाँचों मतिसागर वन्दूँ ।

पाँचों सीमंदर जिन वन्दूँ, नित बीसों जिनवर वन्दूँ ॥ 11 ॥

चौबीसों जिन को नित वन्दूँ, रत्नत्रय को भी वन्दूँ ।

चारणऋद्धीधारी मुनि अरु, पंच महागुरु को वन्दूँ ॥ 12 ॥

जो परमेष्ठी सिद्ध वर्ग या, शुचि आतम को बतलाये ।

अहंम् उत्तम बीजाक्षर को, पूर्ण यत्न से हम ध्याये ॥ 13 ॥

सम्यक्त्वादिक गुण युत हैं जो, अष्ट-कर्म का करके क्षय ।

नमूँ सिद्ध सब परमेष्ठी को, मुक्तिरमा के जो आलय ॥ 14 ॥

सुरसंपद का आर्कषण जो, मुक्तिरमा का वशीकरण ।

चतुर्गति आपद निराकरण जो, निज पापों का दूरकरण ॥ 15 ॥

कुगति गमन को रोक रही जो, करे मोह का सम्मोहन ।

नमन पंच पद आराधन माँ, करे हमारा नित रक्षण ॥ 16 ॥

अनन्त भव की परम्परा के, छेदन का जो कारण है ।

जिनवर चरण कमल का सुमरण, शरण भूत मम तारण है ॥ 17 ॥

मेरी शरण नहीं है कोई, शरण आप ही हो जिनवर ।

रक्षा करिए! रक्षा करिए! सो करुणा करके मुझ पर ॥ 18 ॥

त्रय जग में तुम सा पालक ना, नहीं सुरक्षक त्राता ना ।

वीतराग सा अन्य देव भी नहीं हुआ है होगा ना ॥ 19 ॥

सदा भक्ति हो सदा भक्ति हो सदा भक्ति हो जिनपद में ।

भव-भव में हो प्रतिदिन मेरी श्री जिनपद में, जिनपद में ॥ 20 ॥

हे जिनवर! तव चरण कमल की भक्ति प्रार्थना नित्य करूँ ।

उसी-उसी की बार-बार में भक्ति याचना नित्य करूँ ॥ 21 ॥

श्री जिनवर की थुति करने से विघ्न-जाल नश जाते हैं ।

विष निर्विष हो भूत शाकिनी सर्प दूर हो जाते हैं ॥ 22 ॥

## अंचलिका ( दोहा )

रत्नत्रय मय परमातम को, ध्यान रूप जिसका लक्षण ।

सदा समाधि भक्ति में अर्चूँ, वन्दूँ, पूजूँ करूँ नमन ॥

मेरे दुख कर्मों का क्षय हो, बोधिलाभ हो सुगति गमन ।

और समाधि मरण हो मेरा, मुझे मिले जिनपद-गुणधन ॥

प्रस्तुति -विक्रम चौधरी, गोलू जैन

जबलपुर ( म.प्र. )

# मूकमाटी : अधुनातम आध्यात्मिक रूपक महाकाव्य

डॉ. पुष्पलता जैन

हिन्दी-साहित्य में छायावादी कवि की 'कामायनी' (1935 ई.), युगचारण 'दिनकर' की 'उर्वशी' (1961), तथा लोकमंगल के वंशीवादक 'पंत' का 'लोकायतन' (1964) ये तीनों काव्य अध्यात्म-प्रबन्ध-त्रयी के रूप में प्रस्थापित हुए हैं। इसके बाद चेतना के स्व-पर-उन्नायक आचार्य विद्यासागर जी ने अपनी अनूठी आध्यात्मिक कृति 'मूक माटी' (1988) की रचना कर उक्त प्रस्थानत्रयी की मणिमाला में एक और अपरिमित ज्योतिर्मयी मणि को गुम्फित कर दिया है। इस सुन्दर आकलन को हिन्दी-साहित्य अपनी धरोहर के रूप में सदैव एक दीपस्तम्भ मानता रहेगा।

हमने उपर्युक्त शीर्षक में इस महाकाव्य के तीन विशेषण जान-बूझकर दिये हैं- अधुनातम, आध्यात्मिक और रूपक। यह कृति अधुनातम इसलिए है कि इसमें परम्परा का निर्वाह एक सीमा-विशेष तक ही किया गया है। और फिर परम्परा भी तो गतिशीलता लिये रहती है, उसका एक कदम यदि सीमा है, तो अगला कदम आधुनिकता की देहली पर खड़ा हो जाता है और वहीं से इतिहास के परिप्रेक्ष्य में वह संपूर्ण मानवजाति की भलाई के लिए अथक प्रवचन, (वचन नहीं) देना प्रारंभ कर देता है (मूकमाटी, पृ. 486)। इसे मात्र काव्य कहा जाए या महाकाव्य, आध्यात्मिकता उसमें चरण से चोटी तक बनी हुई है, वह भी रूपक के माध्यम से। माटी किस तरह कुंभकार के निमित्त से मंगल-कलश की स्थिति तक पहुँचती है, इस छोटी सी घटना को सहृदय कवि ने बड़ी सुन्दर और सशक्त शैली में गूँथने का सफल प्रयास किया है। उसने चेतना के आध्यात्मिक संदेश और विकास की गाथा को रूपक माला से ऐसा संयोजित कर दिया है, जहाँ कवि का गीत-संगीत मधुरिम लहरो में लहरा उठा है।

उपर्युक्त आध्यात्मिक प्रबन्धत्रयी के विस्तृत फलक पर छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के तत्वों का प्रस्फुटन हुआ है, पर 'मूकमाटी' उनसे भी एक कदम आगे बढ़ी दिखायी देती है, जिसमें आचार्यश्री ने चिकनी माटी की आकृति और उसमें निहित अनगिनत संभावनाओं को कुंभकार के माध्यम से इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि उससे हर प्राणी में छिपी हुई शक्ति उद्घाटित हो पड़ी है (पृ. 7)। इसमें जीवन के अथ से लेकर इति तक

की ग्राह्य यात्रा और उसके पड़ावों को बड़ी आकर्षक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

समूचे काव्य के अध्ययन से अध्येता इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि कवि को रूपक तत्त्व अधिक प्रिय है। मूकमाटी अपने आप में एक रूपक बन कर सामने आती है और सरिता, कुंभकार, कंकड, आदि को माध्यम बना कर प्रस्तुत से अप्रस्तुत और अप्रस्तुत से प्रस्तुत की अभिव्यंजना करती है। इस अभिव्यंजना में साधक की आस्था-पूर्ण साधना निकष बन जाती है, जिसकी पृष्ठभूमि में सम्यक् आचरण और सम्यक् ज्ञानपूर्वक तप प्रतिफलित होता है और प्रतिफलन में करुणा और मुदिता जैसे शुभ भाव अच्छी तरह से जुड़ जाते हैं।

कवि ने काव्य को चार खण्डों में विभाजित किया है। ऐसा लगता है कि माटी की विकास-कथा के ही चार सोपान कर दिये हों। प्रथम खण्ड 'संकर नहीं, वर्ण-लाभ' में कवि ने सर्वप्रथम सरिता-तट की माटी को प्रकृति के परिवेश में प्रस्तुत किया है, जहाँ वह माँ सरिता से एक ज्वलन्त प्रश्न पूछती है कि उसकी इस पर्याय का अन्त कब होगा? यह प्रश्न हर सांसारिक प्राणी के मन में उस समय उभरता है, जब वह सरिता की कठोर जीवन-लहरों के समान उत्तप्त संघर्षों से जूझता है। यह प्रश्न उसकी चेतना में ऐसा बैठ जाता है कि प्रश्न के उत्तर की खोज के लिए वह साधु-सत्संगों को एक कुंभकार के रूप में ग्रहण कर लेता है। उसकी आस्था धीरे-धीरे बलवती होती जाती है और चेतना की सृजनशीलता में कुंभकार की सहायता से वह आगे बढ़ती चली जाती है। जिस प्रकार माटी को जलतत्त्व के मिश्रण से चिकना कर दिया जाता है और उसमें से वर्ण-संकर के रूप में कंकर-पत्थर निकाल कर फेंक दिये जाते हैं, उसी तरह जीवन की विविध पर्यायों में आपदाओं को कुचलते हुए साधक विशुद्धि के क्षेत्र में आगे बढ़ जाता है और अनेक गुत्थियों को सुलझा लेता है। कंकर माटी में मिलता नहीं, फूलता नहीं, जल धारण करने की उसमें क्षमता नहीं, इसलिए वह अभव्य की तरह फेंक दिया जाता है। शिल्पी जल छानकर बाल्टी से शेष जल को आहिस्ता-आहिस्ता कुए में वापिस डालता है, जहाँ कवि ने सहधर्मी में ही वैरभाव के उत्पन्न होने का प्रसंग उपस्थित किया है,

जिससे वह यह कहना चाहता है कि एक समाज के बीच ही अधिकांश झगड़े हुआ करते हैं। समाज के दूसरे समाज के साथ झगड़े अपेक्षाकृत कम होते हैं। इसी के साथ कवि ने यह भी स्पष्ट किया है कि मछली प्रलोभन के वशीभूत होकर पानी से बाहर तो आ जाती है, पर पानी के बिना वह अपने जीवन को बचा भी नहीं पाती। यह सोचकर शिल्पी उसे कुएँ में वापिस छोड़ देता है। यह रूपक स्पष्ट करता है कि व्यक्ति कितना भी शक्तिशाली हो समाज से दूर रहकर अपना विकास नहीं कर सकता। उसके जीवन का धर्म दया होना चाहिए- 'धम्मो दयाविसुद्धो' (पृ.188)। स्वभाव और विभाव की मीमांसा इस संदर्भ में द्रष्टव्य है-

अन्त समय में

अपनी ही जाति काम आती है।

शेष सब दर्शक रहते हैं-

दार्शनिक बनकर!

और विजाति का क्या विश्वास?

आज श्वास-श्वास पर

विश्वास का श्वास घुटता-सा

देखा जा रहा ..... प्रत्यक्ष!

महाकाव्य का दूसरा भाग व्यक्तित्व के निर्माण का है, जिसमें उसका अहं विसर्जित हो जाता है और वह अपने आराध्य को समर्पित हो जाता है। इस प्रसंग में कवि ने मिट्टी में पानी का मिश्रण किया और पानी ने माटी में नये प्राण फूँके। माटी फूल गयी और फिर शिल्पी उसे सँभालने आया। उसने देखा, माटी में एक टूटा अधमरा काँटा पड़ा हुआ है, जिसमें जीने की तो आशा है, पर मन से माया दूर नहीं हुई। यही प्रसंग आगे बढ़ता जाता है और काँटे और फूल के बीच संवाद उपस्थित होता है। काँटे के बिना फूल का अस्तित्व ही क्या? यह इसका प्रतीक है कि जीवन संघर्ष की कहानी है और संघर्षों से ही जीवन विशुद्धि की ओर बढ़ता है। शिल्पी माटी को पैर से रौंदता है और उसे घड़े के अनुकूल बनाता है। माटी शिल्पी के पैरों से कुचली जाने पर भी मौन रहती है और उसका मन मान-माया से मुक्त रहता है। इस संदर्भ में कवि ने बड़ी सुन्दर और सरस शैली में नव रसों के स्वरूप को उद्घाटित किया है। इस बीच माटी का आस-पास समाप्त हो जाता है और शिल्पी उसे चाक पर चढ़ा देता है। कुम्भकार का यह चक्र संसार का संसरण है, जन्म-मरण की प्रक्रिया है। आचार्य ने इसे अरहट्ट की भी उपमा दी है।

काव्य का तृतीय खण्ड कुंभ की परीक्षा से संबद्ध है। वह आग में पकाया जाता है। एक ओर उसे अँवा की अग्नि का सामना करना पड़ता है, तो दूसरी ओर सूर्य का और बादलों का प्रकोप सहन करना पड़ता है। इस प्रसंग में कवि ने परम्परा से अलग हट कर महिलाओं की प्रशंसा की है और उनकी शक्ति को पहचाना है। इसके आगे माटी को इन्द्र-वज्र, मेघ, बिजली और ओलों का भी सामना करना पड़ता है। इस सबके बावजूद माटी का घड़ा अडिग रहता है, भस्म नहीं होता। घड़े की ये सारी परीक्षाएँ, जीवन की परीक्षाएँ हैं, जिसमें साधक का उत्तीर्ण होना आवश्यक है।

चतुर्थ खण्ड में घड़े की अन्तिम परीक्षा है। शिल्पी अँवा का निर्माण करता है बबूल की लकड़ियाँ लगाकर और फिर उसमें कुंभ को अग्नि-परीक्षा देनी पड़ती है। अग्नि से उठा हुआ धुआँ (तामस) कुम्भ खा लेता है और उससे उसमें समता आ जाती है। यह समता वर्गातीत अपवर्ग का प्रतीक है। इसके बाद कुम्भ को बाजार में रखा जाता है, जहाँ एक सेठ उसकी परख करके खरीद लेता है और उसका उपयोग साधु-संत के आहार-दान में पड़गाने हेतु मंगल कलश के रूप में करता है। यही कुम्भ नदी की बाढ़ से सेठ को बचाता है। सभी कुम्भ के माध्यम से नदी के पार हो जाते हैं। इस खण्ड में कथा को आगे बढ़ाने के लिए साधु की आहार-प्रक्रिया, सेठ के विविध रूप, मच्छर-मत्कुण, आतंकवाद आदि जैसे तत्वों को भी समाहित किया गया है।

समूचा काव्य निर्मुक्त छंद में लिखा गया है, इसलिए पढ़ने में एक प्रवाह बना रहता है, परन्तु वह प्रवाह तब रुक जाता है, जब कवि किसी प्रसंग को अनावश्यक रूप से ला देता है अथवा अनावश्यक रूप से उसका विस्तार करने लगता है। उदाहरण के तौर पर सेठ द्वारा आहार-दान की प्रक्रिया।

'मूकमाटी' का कवि प्रकृति का सुन्दर चित्रण है, उसकी कल्पना में माटी प्रकृति-प्रदत्त तत्त्व है, जिसके वर्णन से ही काव्य प्रारंभ होता है। सरिता तट की माटी के प्रसंग में उषःकाल का वर्णन देखिए, कितनी गहराई है कवि-कल्पना में-

प्राची के अधरों पर

मन्द मधुरिम मुस्कान है

सर पर पल्ला नहीं है

और, सिंदूरी धूल उड़ती-सी



रंगीन-राग की आभा  
 भायी है, भायी ....!  
 लज्जा के घूँघट में  
 डूबती-सी कुमुदिनी  
 प्रभाकर के कर-छुवन से  
 बचना चाहती है वह,  
 अपनी पराग को  
 सराग मुद्रा को  
 पाँखुरियों की ओट देती है।

ऐसा लगता है कवि प्रकृति की गोद में बैठ कर अपने-आपको अधिक स्वस्थ पाता है। शीतकालीन सूर्य की किरणों उसे तब अधिक भाती हैं, जब वे पेड़-पौधों की डाल-डाल पर बरसने लगती हैं। दिन की सिकुड़न डरती-बिखरती-सी लगती है और रात के विस्तार में भय, मद और अघ का भार दिखायी देता है (पृ. 90-91)। कदाचित् यही कारण है कि आचार्यश्री को माटी का प्रयोग बहुत भाता है। उन्होंने आहार के संदर्भ में प्राकृतिक चिकित्सा की बहुत पैरवी की है। उनकी दृष्टि में हर मर्ज की दवा माटी का प्रयोग है। यहाँ तक की हाथ-पैर की टूटी हुई हड्डी भी उससे जुड़ जाती है। पेय के रूप में दूध और तक्र तथा मधुर पाचक सात्विक भोजन के रूप में कर्नाटकी ज्वार का रवादार दलिया अधिक अच्छा लगता है (पृ. 405-407)। वे इसे अहिंसा-परक चिकित्सा-पद्धति मानते हैं और ध्यान-साधना के लिए उपयोगी समझते हैं।

कवि के प्रकृति-प्रेम के साथ ही हमारा ध्यान उनकी काव्यात्मक प्रतिभा की ओर भी आकर्षित होता है। अन्त तक यह काव्य शब्दार्थालंकारों से गुँथा हुआ है। शिल्पी जब माटी को पैरों से रौंदता है, तो कवि उस संदर्भ में वीर, हास्य, रौद्र आदि नव रसों का सुन्दर कल्पनाओं से भरा वर्णन करता है और उसकी आकर्षक पारमार्थिक व्याख्या भी (पृ.128-146)। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक की गोद में यमक और अनुप्रास अलंकारों की छटा देखते ही बनती है। शब्दों की समन्वयीकरण-पद्धति में कवि अधिक माहिर है। जैसे अवसान, अब+शान (पृ.1), कम्बल, कम्+बल (पृ. 92), नमन, न+मन (पृ. 97), राजसत्ता, राजस+ता (पृ. 104), पावनता, पाँव+नता (पृ.114), परखो, पर+खो (124), धोखा, धो+खा (पृ.120), स्वप्न स्व+प+न (पृ.295) आदि। इस काव्य में लोकोक्तियों और मुहावरों का सुन्दर विश्लेषण भी

हुआ है। उदाहरण के तौर पर, बहता पानी रमता जोगी (पृ.448), बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख (पृ. 454), बायें हिरन दायें जाए, लंका जीत राम घर आये (पृ. 24) मुँह में राम बगल में छुरी (पृ. 72) आदि।

कवि की मातृभाषा कन्नड़ है, लेकिन हिन्दी का यह विशाल महाकाव्य देकर उसने यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी कितनी सरल और सुबोध है। कवि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश जैसी प्राचीन भाषाओं का पण्डित तो है ही, पर उसे मराठी, तमिल, गुजराती, हिन्दी तथा अंग्रेजी जैसी भाषाओं का भी गहन अध्ययन है। प्रस्तुत महाकाव्य में इन भाषाओं के जहाँ कहीं कतिपय शब्द नजर आते हैं, पर उनसे हिन्दी की प्रांजलता में कोई अन्तर नहीं आता। काव्य की संस्कृत-निष्ठ शैली में उसने जो रसोद्रेक किया है उसकी चर्चणा में पाठक आकण्ठ मग्न हो जाता है, वह कहीं ऊबता नहीं है, एक ही बैठक में उपन्यास-जैसा पढ़ लेना चाहता है। इसके बावजूद काव्य में गहनता और विदग्धता भरी हुई है।

यह बात तो हुई काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष की, अब हम थोड़ा दर्शन-पक्ष को भी टटोल लें। कवि ने काव्य के प्रारंभिक पन्नों में 'आस्था' का महत्त्व दर्शाया है, जिससे ऐसा लगता है कि सम्यग्दर्शन का महत्त्व प्रस्तुत किया जा रहा है। सरिता-तट की माटी के उत्तर में माँ सरिता ने संगीत का फल और आस्था का महत्त्व बताया है, जो सम्यक्-दर्शन के प्रस्थान-बिन्दु को घोषित करता है-

इसलिए, जीवन का  
 आस्था से वास्ता होने पर  
 रास्ता स्वयं शास्ता होकर  
 सम्बोधित करता साधक को  
 साथी बन साथ देता है।  
 आस्था के तारों पर ही  
 साधना की अँगुलियाँ  
 चलती हैं साधक की,  
 सार्थक जीवन में तब  
 स्वरातीत सरगम झरती है!  
 समझी बात, बेटा?

आस्था की यात्रा कवि की दृष्टि में निष्ठा और प्रतिष्ठा से चलकर संस्था में परिणत होती है, जिसे उसने अव्यय अवस्था कहा है और उसे ही सच्चिदानन्द का केन्द्र-बिन्दु बतलया है। (पृ. 121)। तभी तो वह कह सका-

नींव की सृष्टि वह

पुण्यापुण्य से रची इस

चर्म-दृष्टि में नहीं

अपितु, आस्था की धर्म-दृष्टि में ही

उतर कर आ सकती है। (पृ. 121)

मूकमाटी के माध्यम से आचार्यश्री ने उपादान और निमित्त का झगड़ा भी हल कर दिया है। उन्होंने काव्य के अन्त में यह स्पष्ट कर दिया है कि कार्य का जनक उपादान कारण ही नहीं, अपितु निमित्त भी एक आवश्यक कारण है-

केवल उपादान कारण ही

कार्य का जनक है

यह मान्यता दोष-पूर्ण लगी,

निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है।

हाँ! हाँ!

उपादान कारण ही

कार्य में ढलता है

यह अकाट्य नियम है

किन्तु, उसके ढलने में

निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है। (पृ.480-85)

सारा महाकाव्य स्वभाव और विभाव की व्याख्या करता है। महासत्ता को पहचानने का पथ-दर्शन करता है। संगीत की छाया में आत्मा की शक्ति को अभिव्यक्त करता है और साधु के आचरण को पाथेय के रूप में प्रस्तुत करता है। वस्तुतः उसकी दृष्टि में व्यक्ति का आचरण उसकी खुली किताब है, जहाँ राग-द्वेष-मोह शान्त हो जाते हैं और आतंकवाद परदे के पीछे लुप्त हो जाता है। यही श्रमण की समता है और गणतन्त्र की परम्परा है। माटी से मंगल-कलश तक पहुँचने में उसे जिन पड़ावों का आश्रय लेना पड़ता है, उनका सुन्दर और सरस चित्रण इस महाकाव्य में है। इसमें न द्वन्द्व है, न युद्ध है, न शृंगार है, न वियोग है, बल्कि सांसारिकता को समाप्त करने का एक अमिट पाथेय हर पन्ने में टंकित है, इसलिए शान्त रस इसका प्रमुख रस है, जहाँ करुणा की सरिता बहती है, आस्था का फूल खिलता है और चिदानन्द चैतन्यमय रस फलित होता है। इनके लिए स्व-पर-ज्ञान की अनुभूति आवश्यक है (पृ.375)। शायद इसीलिए कवि ने कुंभ की विशेषता दिखाते हुए श्रमण की सही मीमांसा की है और समता की नयी-नयी पतें उकेरी हैं (पृ.377-380)।

सेठ का प्रसंग ला कर मच्छर और मत्कुण की भूमिका में समाजवाद का भी अपने ढंग से दार्शनिक अर्थ किया है (पृ. 461-67)।

‘मूकमाटी’ के तलस्पर्शी अध्ययन से यह तथ्य भी सामने आता है कि आचार्यश्री के मन में नारी के प्रति अपार करुणा और संवेदना भरी हुई है। उसकी सामाजिक स्थिति से उन्हें संतोष नहीं और वे चाहते हैं कि नारी की शक्ति और प्रतिभा का विकास किया-कराया जाना चाहिए। माटी की भूमिका में उनका मन कदाचित् नारी की मूकता और उसकी प्रबल सत्ता के प्रति आश्वस्त रहा है। उन्होंने माँ की इयत्ता को पहिचाना है और नारी-वर्ग की अहमियत को परखा है, तभी तो माटी मंगलकलश बन कर सर्वोच्च पवित्र शिखर तक पहुँचती है, जहाँ अध्यात्म की सुन्दर सरिता बहती है और विशुद्ध वातावरण में अपनी गहरी साँस लेती है। यह उसी का उपादान है भले ही उसे किसी निमित्त की आवश्यकता रहती हो। माँ के प्रति कवि की ममता और आदर काव्य के प्रारम्भिक पन्नों में तो है ही, पर उन्होंने द्वितीय खण्ड में यह कह कर उसके प्रति सम्मान व्यक्त किया है कि माँ अपनी सन्तान की सुषुप्त शक्ति को सचेत और साकार कर देती है सत्संस्कारों से (पृ.148)। इसी तरह चतुर्थ खण्ड में प्रकृति और पुरुष के बीच के संबंध को स्पष्ट करते हुए उन्होंने पुरुष में प्रतिबिम्बित क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं में नारी को ही प्रबल कारण माना है। उसके विकास और पतन की धुरी भी नारी है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कवि ने लीक से हट कर नारी और उसके पर्यायवाची शब्दों की ऐसी सुन्दर मीमांसा की है, जिससे प्राचीन आचार्यों द्वारा किये गये इन शब्दों के अर्थ एकदम परदे के पीछे चले गये हैं और नारी की गरिमा मुखरित हो उठी है। नारी, महिला, जननी, अबला, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता, धात्री, अंगना आदि शब्दों के यदि नये अर्थ आपको देखने हों, तो ‘मूकमाटी’ के पृष्ठ 201-208 पलट डालिये, तब आप उनमें पायेंगे कि आचार्यश्री की दृष्टि में नारी की उपादानशक्ति कितनी तेज है। इससे भी जब उन्हें संतोष नहीं हुआ, तो आगे के पृष्ठों में उन्होंने समता की आँखों से लखनेवाली मृदुता-मुदिता-शीला नारी की और भी प्रशंसा की है। ऐसा लगता है कि उन्होंने नारी की सहनशीलता, उसके क्षीर-नीर-विवेक और उसकी स्नेहिलता को भलीभाँति पहचाना है, जिसे उन्होंने अपने काव्य में सशक्त शब्दों में उकेरा है (पृ.208-214)।

मैं यह अनुभव करती हूँ कि 'मूकमाटी' जैसे सुदृढ़ विशाल महाकाव्य की यह समीक्षा नितान्त अपर्याप्त है। उस पर यदि कोई लिखने बैठे, तो उससे भी कहीं दुगुना ग्रंथ तैयार हो सकता है। उसमें जैनधर्म और दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त तो हैं ही, पर एक जो विशेष बात कहनी है वह यह कि यह काव्य आचार्यश्री का जीवन-दर्शन लेकर व्यक्ति के समक्ष उपस्थित होता है। वस्तुतः काव्य की पृष्ठभूमि में कवि ने व्यक्तित्व के निर्माण की कला को सुप्रतिष्ठि किया है और माटी जैसे उपेक्षित तत्त्व का आधार लेकर आध्यात्मिक विकास के चरम शिखर तक पहुँचाया है, जिसे देखकर स्वर्ण-कलश परेशान हो उठता है और ईर्ष्यावश बहुत कुछ मंगल-कलश के विरोध में आवाज उठाने का असफल प्रयत्न करता है। अध्यात्म के क्षेत्र में वह धन की निस्सारता का सूचक है। कुल मिलाकर 'मूकमाटी' एक सशक्त महाकाव्य है, जिसने जीवन के हर क्षेत्र को छुआ है और उसे

अध्यात्म से सराबोर कर दिया है। आखिर ऐसा होता भी क्यों नहीं, यह कृति अन्ततः एक निःस्पृही, निर्ग्रन्थ संत की कृति है न? हाँ, लेखनी बन्द करते-करते कबीर का ध्यान आ गया, जहाँ उन्होंने माटी और कुंभकार के बीच संवाद प्रस्तुत कर संसार की अवस्था को चित्रित किया है- 'माटी कहे कुम्हार से .....।' कबीर तो इतना ही कह सके पर हमारे विरागी संत ने तो उस पर एक विशाल महाकाव्य का प्रासाद खड़ा कर दिया, जिसमें प्रसाद और ओज गुण तो है ही, काव्य-प्रतिभा से माधुर्य गुण भी उसमें कूट-कूट कर भरा है। आध्यात्मिक दर्शन और काव्य-सौष्ठव का मनोरम समन्वय देख कर कौन-सा सहृदय पाठक, इसे पढ़कर अभिभूत नहीं होगा? आइये, इसके हर पन्ने को हम समझें और आत्म-विकास में उसका उपयोग करें।

कस्तूरबा वाचनालय के पास  
सदर, नागपुर 440001 ( महाराष्ट्र )

## आपके पत्र

जिनभाषित का दिसम्बर 2006 अंक मिला। सम्पादकीय "दिगम्बर जैन परम्परा को मिटाने की सलाह" में आपने तीर्थंकरप्रणीत धर्म में सुधार करनेवाले लेखकों को भलीभाँति सन्मार्ग दिखाया है। कहावत है 'इस घर को आग लग गई घर के चिराग से।' जब दिगम्बरधर्म के अनुयायी ही मुनियों को वस्त्रधारण की सलाह देने लगेंगे, तो उनकी दिगम्बरधर्म में आस्था पर ही प्रश्न चिन्ह लग जाता है। एक ओर दिगम्बर जैन संत हैं, जो भौतिकवाद के इस युग में भी दिगम्बर रहकर दिगम्बरधर्म के सच्चे स्वरूप का दिग्दर्शन करा रहे हैं। दूसरी ओर वे व्यक्ति हैं, जो संसार की भोगविलासी संस्कृति से प्रभावित होकर मुनियों को वस्त्र धारण की सलाह दे रहे हैं। सच्चे दिगम्बर मुनि चिरकाल तक संसार में विहार कर धर्म का प्रचार-प्रसार करते रहें, मेरी यही भावना है। पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों को भी ध्यान रखना चाहिए और दिगम्बर जैन परम्परा पर छींटाकशी करने वाले लेखों को नहीं छापना चाहिए।

इसी अंक में 'मिथ्याप्रचारकों से सावधान' लेख भी अच्छा लगा। साधुओं का शिथिलाचार समाप्त होना चाहिए। सभी जानते हैं कि कौन-कौन शिथिलाचारी हैं। पूज्य मुनि श्री सुधासागर जी महाराज की निर्दोष चर्या पर भी तथाकथित समाजसेवियों द्वारा उँगली उठाई जा रही है। ऐसा लगता है कि पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज और उनके संघस्थ साधुओं के ज्ञान, ध्यान और तप के प्रभाव से बौखलाकर कुछ समाचारपत्रों और पत्रिकाओं द्वारा जानबूझकर एकतरफा लेख प्रकाशित किये जा रहे हैं, जो चिंता का विषय है।

डॉ. नरेन्द्र जैन 'भारती'  
वरिष्ठ सम्पादक-'पार्श्वज्योति', सनावद ( म.प्र. )

जिनभाषित के दिसम्बर 2006 के सम्पादकीय के लिये बधाई। बहुत अच्छा लिखा है। हालाँकि प्रत्येक अंक का सम्पादकीय बहुत अच्छा होता है। कृपया कुण्डलपुर के सत्य के बारे में एक पुस्तक लिखने का कष्ट कीजिये। मैं प्रकाशित करवाने का वायदा करता हूँ। इससे कुण्डलपुर के विरोधियों के भ्रामक प्रचार की कलई खुल जावेगी।

डॉ. अमोलकचन्द्र जैन  
66, नार्थ ईदगाह कॉलोनी, आगरा ( उ.प्र. )

## चुप्पी तोड़ें विद्वान्

डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन

प्रायः यह देखने में आता है कि विद्वान् अपनी प्रतिष्ठा को देखते हुये चुप रहने में अधिक विश्वास करते हैं। उनकी इस कमजोरी का समाज के बाधक तत्त्व लाभ उठाते हैं। हमारे विद्वानों को चाहिए कि वे चुप्पी तोड़ें और अपनी राय को पुरजोर तरीके से समाज के मध्य रखें। ज्ञानार्णव के नवम सर्ग में लिखा है कि “जहाँ धर्म का नाश होता हो, क्रिया बिगड़ती हो तथा समीचीन सिद्धान्त का लोप होता हो, वहाँ विद्वानों को बिना पूछे भी बोलना चाहिए।” इतिहास बताता है कि भले ही सत्य बात बोलने पर विद्वानों की हत्या तक हुई हो, लेकिन उनके द्वारा बोले गये सत्य से समाज का हित ही हुआ है। वीर निकलंक एवं पं. टोडरमल जी के बलिदान हमसे यही अपेक्षा रखते हैं। समाज में विद्वानों की दो परिषदें सर्वमान्य हैं-1. अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, 2. अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्र-परिषद्। समाज की ये परिषदें दिगम्बर जैन साधुओं के प्रति पूर्ण निष्ठावान् हैं तथा समय-समय पर उनसे प्रेरणा एवं आशीर्वाद लेकर कार्य करती हैं। विगत कुछ दिनों से कुछ पत्रकारों ने इन्हें मानो अपनी भँड़ास निकालने का केन्द्र बना लिया है। अभी हाल ही में ‘दिशाबोध’, ‘समन्वय वाणी’, ‘जैन चिन्तन’ आदि में अनावश्यक, बिना सच्चाई जाने विपरीत टिप्पणियाँ की गयी हैं, जो नितान्त अनुचित हैं। अच्छा होता यदि वे कुछ लिखने से पहले इन परिषदों के पदाधिकारियों से विचारविमर्श करते। जरूरी नहीं समझते हुए भी मैं मंत्री के नाते उठाये हुए कुछ बिन्दुओं पर प्रकाश डाल रहा हूँ- ‘दिशाबोध’ को दिशाबोध की आवश्यकता है

कोलकाता से प्रकाशित ‘दिशाबोध’ के वर्ष-१० अंक-१२ सितम्बर-२००६ में अपने विशेष संपादकीय- ‘चार चातुर्मासिक चिंतन’ में ‘विद्वानों की गरिमा में हास का कारण शीर्षक से विद्वत्परिषद्’ के १५ दिन के अंतराल में दो अधिवेशन बुलाने पर आपत्ति करते हुए डॉ. चिरंजीलाल बगड़ा ने संस्था-पदाधिकारियों की मानसिकता एवं विद्वानों की गरिमा पर प्रश्नचिह्न उठाया है। इससे विद्वानों में ‘दिशाबोध’ के प्रति गहरी नाराजगी है। लेकिन जैसा कि मैं ‘दिशाबोध’ के सम्पादक को जानता हूँ, उन्हें ऐसी नाराजगी में मजा आता है। वैसे ‘दिशाबोध’ “अपनी ढपली अपना राग” के अतिरिक्त और क्या है? वे अपने चश्मे से सबको देखते हैं और स्वयं को स्वयं ही श्रेष्ठ घोषित करते हुए

लज्जा तक का अनुभव नहीं करते। मैं उन्हीं के लिखे अनुसार उनसे पूछता हूँ कि आपने यह कैसे कह दिया कि “अधिकांश विद्वान् अपनी अस्मिता भुलाकर साधुओं को मात्र अपने स्वार्थ हित का माध्यम बनाकर खेमेबन्दी के शिकार होने लगे?” वे बतायें कि ‘अधिकांश विद्वान्’ का उनका पैमाना क्या है? वे कौन से साधु हैं, जो स्वार्थहित का माध्यम बने हैं या खेमेबन्दी के शिकार हैं? यदि 15 दिन के अंतराल में दो अधिवेशन होते हैं तो, वे आपत्ति करनेवाले कौन होते हैं? वे न विद्वत्परिषद् के सदस्य हैं, न आयोजक, न प्रायोजक? दूसरे जब उन्हें छपे पत्र में भी सात बिन्दुओं में मात्र एक बिन्दु दिखता है, तो जैसा कि उन्होंने स्वयं अगले पृ. २७ पर लिखा है कि “शायद वह मेरा दृष्टि दोष ही है” सो उचित ही है। आप व्यर्थ ही ‘ही’ के साथ ‘शायद’ लगा रहे हैं क्योंकि जहाँ ‘शायद’ होता है, वहाँ ‘ही’ नहीं होता और जहाँ ‘ही’ होता है वहाँ ‘शायद’ नहीं होता। भले ही आप स्वयं के ‘प्रज्ञाचक्षु’ से देखने की बात कहते हों, किन्तु प्रज्ञाचक्षु की आवश्यकता तो उन्हें होती है, जिनकी आँखें न हों। यदि आप आँख और प्रज्ञा का सही इस्तेमाल करते तो, जो आपने लिखा उसकी नौबत ही न आती।

रही बात दो अधिवेशन की, तो पाठकों की जानकारी के लिए बता दें कि सागर में आयोजित अधिवेशन ‘विद्वत्परिषद्’ के आम चुनाव एवं स्व. पं. वंशीधर जी व्याकरणाचार्य के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के मूल्यांकन हेतु विद्वत्संगोष्ठी के सन्दर्भ में बुलाया गया था। दूसरा उदयपुर में आयोजित अधिवेशन अकेले ‘विद्वत्परिषद्’ का न होकर ‘शास्त्रपरिषद्’ के साथ संयुक्त रूप से आयोजित था, जो प्रथम बार आयोजित किया गया था। जो कार्य देव-शास्त्र-गुरु के सान्निध्य में समाज के मध्य खुले मंच से होता है, वह सही होता है, सार्थक होता है, उसे साधु, स्वार्थ या खेमेबन्दी से जोड़ना लेखनी को कलंकित करने के अतिरिक्त और क्या है? अगर बगड़ा जी को लिखना ही था, तो उन सात बिन्दुओं पर अपने विचार/सुझाव देते, जिन पर यह अधिवेशन आयोजित था। ‘विद्वत्परिषद्’ के पदाधिकारियों एवं विद्वानों ने सदैव अपनी गरिमा बचाये रखी है, हाँ पत्रकारिता के क्षेत्र में आप जैसों के आ जाने से समाज में ‘दिशाबोध’ के नाम पर भ्रम परोसने से अवश्य पत्रकारों और पत्रकारिता की गरिमा कम हुई है, इस पर विचार की आवश्यकता है।

यदि 250 विद्वानों और हजारों समाज के नर-नारियों की उपस्थिति में निष्पक्ष चर्चा नहीं हो सकती, तो आप ही बतायें कि निष्पक्ष चर्चा कहाँ हो सकती है? हमारी 'विद्वत्परिषद्' वहाँ विचार के लिए आने को तैयार है। रही बात 'कुण्डलपुर' (दमोह) में नवीन मंदिर निर्माण सम्बंधी एजेण्डे की, तो इस विषय में विद्वत्परिषद् का एजेण्डा जगजाहिर है कि वहाँ बड़े बाबा की सुरक्षा हेतु भव्य मंदिर बनना चाहिए। इस विषय में यदि प.पू. आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज की सहमति है, तो हम उनके साथ हैं और यदि उन्हें छोड़कर कोई अन्य आचार्य या साधु इसका समर्थन करता है, तो हम उनके भी साथ हैं। हमें सकारात्मक दृष्टिकोणवाले किसी भी साधु-संत, विद्वान्, पत्रकार या बंधु से कोई परहेज नहीं है। 'दिशाबोध' पूर्व में भी विद्वत्परिषद् एवं विद्वानों को लेकर आनी मनगढ़न्त टिप्पणियाँ कर चुका है। हम इसलिए चुप रहे कि आज नहीं कल, उनकी लेखनी में सुधार होगा, लेकिन लगता है वे दूसरों में ही सुधार चाहते हैं, खुद में नहीं। अतः पाठक किसी प्रकार के भ्रम में न रहें और विद्वत्परिषद् के प्रति अपना पूर्ववत् सहयोग जारी रखें।

### श्री हेमन्त काला की गलत बयानी

हम और हमारे विद्वान् साथी श्री हेमन्त काला के 'दैनिक भास्कर', उदयपुर में छपे उस वक्तव्य की निन्दा करते हैं, जिसमें उन्होंने मुनिश्री सुधासागर जी महाराज के प्रति अत्यन्त अशोभनीय, अयथार्थ शब्दावली का प्रयोग करते हुए, उनके सान्निध्य में जो विशाल विद्वत्सम्मेलन हुआ था, उस पर विपरीत टिप्पणी करते हुए कहा है कि- "विद्वत् जन सम्मेलन में चाटुकार लोगों को बुलवाया, जिन्होंने एक-दूसरे का गुणगान किया।" मैं हेमन्त काला से पूछना चाहता हूँ कि- "क्या देश के मूर्धन्य विद्वानों सहित 250 विद्वानों का सम्मेलन चाटुकार लोगों का सम्मेलन कहलाता है? अगर यह चाटुकार लोगों का सम्मेलन था, तो फिर आपकी दृष्टि में ऐसा कौन सा विद्वत्सम्मेलन हुआ है, जिसे आप विद्वत्सम्मेलन मानते हों? दूसरे, इसमें वह कौन सा प्रसंग था, जिसमें एक-दूसरे का गुणगान किया गया हो? शास्त्रपरिषद् एवं विद्वत्परिषद् के अधिवेशन के पूर्व देश के शीर्षस्थ विद्वानों ने आज की ज्वलन्त समस्या समाधिमरण/सल्लेखना/संधारा पर 'भगवती आराधना' ग्रंथ के आलोक में चर्चा की, उसे आत्महत्या के विपरीत 'जैन धार्मिक मौलिक क्रिया' सिद्ध किया और प्रिंट एवं इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के माध्यम से संसार के 122 देशों तक इस संदेश को पहुँचाया, तो क्या यह चाटुकारिता थी? अधिवेशन में भी पूर्व

निर्धारित सात बिन्दुओं पर खुलकर चर्चा की, और ग्यारह सूत्री आगमसम्मत अपील समाज के नाम जारी की तो इसमें कौन सी चाटुकारिता हो गई? कहीं आपको यह अफसोस तो नहीं था कि आपको उसमें आमंत्रित क्यों नहीं किया गया? या आप संगोष्ठी एवं अधिवेशन में मिले ज्ञान एवं सम्मान से वंचित रह गये? आप स्वयं भले ही महानता का आवरण ओढ़ें, किन्तु आपने अपने बयान से सिद्ध कर दिया है कि आपको न साधु का सम्मान करना आता है और न ही आप विद्वानों की विद्वत्ता के कायल हैं। श्री हेमन्त काला के द्वारा यह कहना कि मुनिश्री सुधासागर जी को आगम का ज्ञान नहीं है, एक निर्लज्ज कथन है, जिसकी जितनी भी निन्दा की जाए कम है। मुनिपुङ्गव श्री सुधासागर जी महाराज को उनके जैसे किसी विद्वान् के प्रमाणपत्र की आवश्यकता नहीं है। उनके लिये सबसे बड़ा प्रमाणपत्र तो उनके गुरु आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज का आशीर्वाद है, जो उनके साथ सदा रहता है। वे आगम के यथार्थ ज्ञानी हैं, विनयशील हैं, अध्ययन-निष्णात हैं। वे जानते हैं कि समाज हित में क्या सही है और उन्हें क्या करना है। आपको इस विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। आप स्वयं सत्चिन्तन करें तो समाज अनेक चिन्ताओं से बच सकता है। आपका जिस प्रकार का छलभरा आगमविरोधी लेखन चल रहा है, उसे समाज कभी मान्य नहीं करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

'समन्वय वाणी' के सम्पादक श्री अखिल बंसल ने अपने संपादकीय- 'मुनिश्री सुधासागर जी के उद्गारों से उठा बवाल' (वर्ष-26, अंक-12, दि. 16-30 नवम्बर, 06) में जिस तरह मुनिश्री सुधासागर जी महाराज और अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् को निशाना बनाया है, वह उनकी मनःस्थिति को उजागर करता है। उनके विचार इस प्रकार के हैं कि पता ही नहीं चलता कि वे क्या चाहते हैं? वे आचार्य विद्यासागर जी जैसे महान् संत के लिए लिखते हैं कि- "वे अपने आगे अन्य किसी को कुछ समझते नहीं।" दूसरी ओर लिखते हैं कि- "मुनि श्री सुधासागर जी के गुरु आचार्यश्री विद्यासागर जी, जिनका बुन्देलखण्ड में अच्छा खासा प्रभाव है, मुनिचर्या पालने में इस ग्रुप का कोई सानी नहीं है। तेरह पंथ आम्नाय के प्रभावशाली संतों में सिरमौर हैं। अपनी चर्या, आगमज्ञान एवं स्वाध्याय के प्रति जागरूक होने के कारण 20 पंथी साधुओं की तुलना में अधिक प्रभावशाली हैं।" अब पाठक ही विचार करें कि उनकी मनः स्थिति क्या है? जहाँ तक मुझे पता है, आचार्य

श्री विद्यासागर जी महाराज एवं उनके द्वारा दीक्षित शिष्य हर उस साधु से मिलते हैं, जिसकी चर्या निर्दोष है। उन्होंने कभी किसी साधु को अपने संघसान्निध्य से नहीं रोका।

श्री अखिल बंसल का यह लिखना कि- “मुनि सुधासागर जी ने विद्वानों की संस्था अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद् के एक धड़े को पूरा आशीर्वाद देकर अपने पक्ष में कर रखा है,” जबकि वास्तविकता यह है कि उन्होंने विद्वत्परिषद् के किसी एक धड़े को नहीं, अपितु सम्पूर्ण विद्वत्परिषद् (मूल) को अपना आशीर्वाद दिया है। हाँ, कुछ ऐसे लोग अवश्य उनके आशीर्वाद से वंचित हो सकते हैं, जिन्होंने विद्वत्परिषद् को तोड़ने का असफल प्रयत्न किया और जिनकी दिगम्बर मुनियों में आस्था नहीं है। उन्होंने विद्वत्परिषद् के सैकड़ों सदस्यों के मध्य स्पष्ट रूप से कहा है कि उन्हें किसी व्यक्ति या साधुविशेष के प्रति निष्ठा रखनेवाली किसी भी संस्था से कोई प्रयोजन नहीं है। वे विद्वानों की एकता के पक्षधर हैं और एकता चाहनेवालों को अपना आशीर्वाद देने के लिए तैयार हैं। अतः उन पर दोषारोपण करना उचित नहीं है। मुनिपुङ्गव श्री सुधासागर जी महाराज शास्त्रिपरिषद् एवं विद्वत्परिषद् के सैकड़ों विद्वानों की दृष्टि में एक आदर्श साधु हैं, जिनका कृतित्व मूलाचार के अनुरूप है और यही वह कारण है कि वे हम विद्वानों को ही अपने चारित्र में गुणात्मक वृद्धि हेतु खरी-खरी सुनाते हैं, फिर भी हम चाहते हैं कि उनका सान्निध्य हमें बराबर मिलता रहे। इसमें किसी

को आपत्त नहीं होनी चाहिए, अपितु अनुकरण का भाव होना चाहिए।

जहाँ तक अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् द्वारा भट्टारक-परंपरा के विरोध का आरोप श्री अखिल बंसल ने लगाया है, यह पूरी तरह मिथ्या है। यदि ऐसा होता तो श्रवणबेलगोला में आयोजित विद्वत्-सम्मलेन का संयोजक विद्वत्परिषद् के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी को नहीं बनाया जाता। मुनि श्री ने आचार्य श्री भरतसागर जी के विषय में जो कुछ कहा है, अगर उस पर व्यापक परिप्रेक्ष्य में आप देखते, तो ऐसा नहीं लिखते। मुनि श्री साधुओं के द्वारा किये जानेवाले तंत्र-मंत्र के विरुद्ध हैं और आगम भी ऐसा ही कहता है। मुनिश्री ने विद्वत्संगोष्ठी में आचार्य श्री विद्यानंद जी के विषय में कोई भी अनुचित टिप्पणी नहीं की। हमारे विद्वानों या विद्वत्परिषद् को आपके द्वारा पिछलग्गू या कृतघ्नता की श्रेणी में रखना पूरी तरह अनुचित है। आशा है आप अपने विचारों में परिवर्तन लायेंगे और सच को सच और झूठ को झूठ कहने का प्रयास करेंगे।

अन्त में मेरा सभी सामाजिक जनों, पत्रकारों से निवेदन है कि वे यदि विद्वानों को अपना विश्वास नहीं दे सकते, तो कम से कम उनके विरुद्ध दुष्प्रचार न करें। विद्वान् सदैव से समाज की शोभा हैं और सदा बने रहेंगे।

मंत्री- अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्  
एल-65, न्यू इन्दिरा नगर, बुरहानपुर ( म.प्र. )

### जैन डॉक्टर्स सम्मेलन संपन्न

तीर्थराज शिखर जी में दो दिवसीय अखिल भारतीय दिगम्बर जैन डॉक्टर्स संगोष्ठी आचार्य विद्यासागर जी के परम आशीष एवम् प.पू. मुनिश्री प्रमाणसागरजी के मंगल सान्निध्य में भारी सफलता के साथ संपन्न हुई। परिचय सम्मेलन के अंत में प.पू. मुनिश्री १०८ प्रमाणसागर जी महाराज ने सभी चिकित्सकों के लिए अपने सारगर्भित शब्दों में उपदेश देते हुए कहा कि वैद्यक व्यवसाय को भगवान् का दूसरा रूप समझा जाता है, लेकिन आज की परिस्थितियों में वैद्यक-व्यवसायी कलंकित हो रहे हैं। वह अगर जैन चिकित्सक है, तो और भी खतरनाक बात है। इसलिए रुग्ण की सेवा को परमधर्म समझकर उसे यथायोग्य शुल्क में स्वास्थ्य प्रदान करना चाहिए।

डॉ. सन्मति ठोले

### जैन तिथिदर्पण का लोकार्पण

राष्ट्रसन्त सिद्धान्तचक्रवर्ती प. पू. विद्यानंदजी मुनिराज द्वारा पं० नाथूलाल जी शास्त्री द्वारा सम्पादित जैन तिथि दर्पण का कुन्दकुन्द भारती, 'प्राकृत भवन' दिल्ली में लोकार्पण किया गया है।

जैन तिथि दर्पण इन्दौर स्थित कार्यालय एवं पं० नाथूलालजी शास्त्री के निवास मोतीमहल-सर हुकुमचन्द्र मार्ग इतवारिया बाजार इन्दौर से तथा गोम्मतगिरि इन्दौर व लशकरी मंदिर गोरकुण्ड इन्दौर से निःशुल्क प्राप्त किये जा सकते हैं। इच्छुक महानुभाव यथेष्ट डाक व्यय भेजकर या किसी परिचित द्वारा भी मँगा सकते हैं।

गुलाबचन्द बाकलीवाल

# जिज्ञासा-समाधान

पं. रतनलाल बैनाड़ा

**जिज्ञासा** - दूसरी प्रतिमाधारी को भोगोपभोगपरिमाण-व्रत के अंतर्गत 17 नियम प्रतिदिन लेने होते हैं। उनको बताइये।

**समाधान** - भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अंतर्गत प्रतिदिन निम्न 17 नियम लेने चाहिये -

1. आज में इतनी बार खाऊँगा।
2. आज इतने रस ग्रहण करूँगा।
3. पीने की वस्तु कौन-कौन और कितनी बार लूँगा।
4. चंदन आदि का उबटन इतनी बार लगाऊँगा।
5. फूलमाला आदि का इतनी बार प्रयोग करूँगा।
6. इलायची आदि इतनी बार खाऊँगा।
7. इतने गीत आदि सुनूँगा।
8. इतनी बार वाद्ययंत्र बजाऊँगा या सुनूँगा।
9. ब्रह्मचर्य इस प्रकार पालूँगा।
10. इतनी बार स्नान करूँगा।
11. इतने आभूषण पहिँनूँगा।
12. इतने वस्त्र पहिँनूँगा।
13. इतनी सवारियों का प्रयोग करूँगा।
14. सोने में इतने पलंग, गद्दा आदि का प्रयोग करूँगा।
15. इतने मेज कुर्सी आदि का प्रयोग करूँगा या नहीं।
16. फल सब्जी केवल इतनी लूँगा।
17. अन्य वस्तु इतने प्रकार की रखूँगा।

**प्रश्नकर्ता** - श्री कामता प्रसाद जी मुजफ्फरनगर

**जिज्ञासा** - नवनीत को अभक्ष्य कहा है, फिर उससे बना घी भक्ष्य कैसे हो सकता है?

**समाधान** - 1. नवनीत के संबंध में सागारधर्मावृत में इस प्रकार कहा है-

मधुवन्नवनीतं च, मुंचेत्त्रापि भूरिशः।

द्विमुहूर्तात्परं शश्वत्, संसजन्त्यंगिराशयः ॥ 2-12 ॥

**अर्थ** - मधु की तरह मक्खन को भी छोड़ना चाहिये, क्योंकि मक्खन में भी दो मुहूर्त के बाद निरंतर बहुत से जीव-समूह उत्पन्न होते रहते हैं।

2. श्री अमितगति श्रावकाचार (5-36) में इस प्रकार कहा है-

यन्मुहूर्तयुगलं परं सदा, मूर्च्छति प्रचुरजीवराशिभिः।

तद् गिलंति नवनीतमत्र ये ते व्रजंति खलु कां गतिं मृताः ॥

**अर्थ** - जिस नवनीत में दो मुहूर्त के पश्चात् प्रचुर जीव-राशि सदा उत्पन्न होती रहती है, उस नवनीत को जो लोग यहाँ पर खाते हैं, वे मरकर कौन सी गति में जाते हैं, यह हम नहीं जानते।

3. सागारधर्मावृत की स्वोपज्ञटीका में पं. आशाधर जी ने एक श्लोक और भी दिया है-

अंतर्मुहूर्तात्परतः, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः।

यत्र मूर्च्छति नाद्यं तन्नवनीतं विवेकिभिः ॥

**अर्थ** - जिसमें अंतर्मुहूर्त के बाद सूक्ष्म जंतुओं का समूह उत्पन्न हो जाता है, ऐसा नवनीत विवेकी जनों को नहीं खाना चाहिए।

उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार यदि मक्खन तुरन्त ही खाया जाय या तुरन्त ही घी बनाने में प्रयोग करें, तो मर्यादित कहा गया है। अतः ऐसी विधि से बनाया गया घी भी भक्ष्य की कोटि में आता है।

**प्रश्नकर्ता** - पं. बसंत कुमार जी शिवाड़

**जिज्ञासा** - निरंतरबंधी और सान्तरबंधी प्रकृति से क्या तात्पर्य है?

**समाधान**- श्री कर्मप्रकृति ग्रंथ पृष्ठ 14-15 पर इस संबंध में इस प्रकार कहा है-

यासां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रं बन्धः उत्कर्षतः समयदादारभ्य यावदन्तर्मुहूर्तं न परतः, सान्तरबन्धाः, अन्तर्मुहूर्त-मध्येऽपि सान्तरो विच्छेदलक्षणान्तरसहितो बंधो यासां ताः सान्तरा इति व्युत्पत्तेः। अन्तर्मुहूर्तोपरि विच्छिद्यमानबन्धवृत्ति-जातिमत्यः सान्तरबन्धाः इति फलितार्थः। जघन्येनापि या अन्तर्मुहूर्तं यावनैरन्तर्येण बन्ध्यन्ते ता निरन्तरबन्धाः।

**अर्थ**- जिन प्रकृतियों का बन्ध जघन्य से एक समय, उत्कृष्ट से समय को आदि करके अन्तर्मुहूर्त से पूर्व तक है

वे सान्तर बन्धी प्रकृतियाँ हैं। अन्तर्मुहूर्त के मध्य में बन्ध-विच्छेद होकर पुनः अन्तरसहित बँधनेवाली प्रकृति सान्तर-बन्धी प्रकृति है। जघन्य से भी जो अन्तर्मुहूर्त तक बँधती रहे अर्थात् अन्तर्मुहूर्त के मध्य में बन्ध होकर जिस प्रकृति में अन्तर नहीं पड़ता, वह निरन्तरबन्धी प्रकृति है।

**भावार्थ** - एक समय बँधकर दूसरे समय में जिस प्रकृति की बंधविश्रान्ति देखी जाती है, वह सान्तरबंधप्रकृति है और जिसका बंधकाल जघन्य भी अन्तर्मुहूर्त मात्र है, वह निरन्तरबंधप्रकृति है। श्री धवला पुस्तक 8 पृ. 100 में भी इसी प्रकार कहा है।

**जिज्ञासा** - क्या कार्माण वर्गणा भी आठ प्रकार की होती है या एक प्रकार ही होती है?

**समाधान** - उपर्युक्त जिज्ञासा के समाधान में श्री धवल पु. 14, पृ.553-54 में इस प्रकार कहा है-

ज्ञानावरणीय के योग्य जो द्रव्य है, वे ही मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों के कारण पाँच ज्ञानावरणीय रूप से परिणमन करते हैं, अन्य रूप से वे परिणमन नहीं करते, क्योंकि वे अन्य के अयोग्य होते हैं। इसी प्रकार सर्व कर्मों के विषय में कहना चाहिए।

**शंका**- यदि ऐसा है तो कार्माण वर्गणाएँ आठ हैं, ऐसा कथन क्यों नहीं किया है?

**समाधान**- नहीं किया, क्योंकि अन्तर का अभाव होने से उस प्रकार का उपदेश नहीं पाया जाता है। ये आठ स्वभाव वाली वर्गणाएँ पृथक्-पृथक् नहीं रहती हैं, किन्तु मिश्रित होकर रहती हैं। कहा भी है- "आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहो।"

**अर्थ**- इन वर्गणाओं में आयु कर्म स्वभाववाली वर्गणाओं का भाग कम है, नाम और गोत्र कर्म का भाग उससे अधिक है, परन्तु बराबर है।

उपर्युक्त गाथा भाग से जाना जाता है कि आठों ही वर्गणाएँ भिन्न-भिन्न कर्म प्रकृतिरूप परिणमन करनेरूप योग्यता रखने वाली हैं। तथापि वे मिश्रित होकर रहती हैं। अर्थात् जो वर्गणाएँ ज्ञानावरणीयरूप परिणमन करनेरूप योग्यता रखती हैं, वे दर्शनावरणीयरूप परिणमन नहीं कर सकतीं। अतः पूरे लोक में व्याप्त समस्त कर्मवर्गणाएँ सामान्य से एक

जैसी होते हुए भी आठ प्रकार के स्वभाव वाली होती हैं, ऐसा समझना चाहिए।

**जिज्ञासा** - क्या कोई देव कर्मभूमि के मनुष्य को अपने निवास स्थान में ले जाकर कुछ दिन रोक सकता है? आगम प्रमाण स्पष्ट करें।

**समाधान** - श्री उत्तरपुराण पृ. 507 पर इस प्रकार कहा है-

1. ज्ञातजीवन्धराकृतस्तत्सर्वं शान्तिमानयत् ।  
ततो विजयगिर्याख्यम् समारोप्य गजाधिपम् ॥ 382 ॥

2. कुमारं तदनुज्ञानात्स्वावासमनयत् सुहृत् ।  
स्वगेहदर्शनं नाम सद्भावः सुहृदां स हि ॥ 383 ॥

**अर्थ** - उस यक्ष ने जीवन्धरकुमार का अभिप्राय जानकर सर्व उपद्रव शान्त कर दिया। तदनन्तर वह यक्ष देव जीवन्धरकुमार की सम्मति से उन्हें विजयगिरि नामक हाथी पर बैठाकर अपने घर ले गया। सो ठीक ही है, क्योंकि मित्र के लिए अपना घर दिखलाना मित्रों का सद्भाव रहना ही है।

जीवन्धरोऽपि यक्षस्य वसतौ सुचिरं सुखम् ।  
स्थित्वा जिगमिषां स्वस्याज्ञापयघक्षमिङ्गितैः ॥ 387 ॥

**अर्थ** - जीवन्धर कुमार जी उस यक्ष देव के घर में बहुत दिन तक सुख से रहे। तदनन्तर चेष्टाओं से उन्होंने यक्ष से अपने जाने की इच्छा प्रगट की। उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट है कि जीवन्धरकुमार को उनका मित्र यक्षदेव अपने घर निवास स्थान ले गया था। और वहाँ जीवन्धर कुमार बहुत दिनों तक रहे थे।

**जिज्ञासा**- क्या श्री कषायपाहुड से पहले ग्रंथ होते थे या नहीं?

**समाधान** - उपर्युक्त जिज्ञासा के समाधान में हमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण तो ज्ञात नहीं होते हैं, परन्तु प्रसंगों से यह ज्ञात अवश्य होता है कि ई.पू. में भी ग्रंथों का सद्भाव तो था ही।

**जैसे**- 1. आचार्य कुन्दकुन्द को अपने पूर्व भव में जंगल के एक कोटर में एक शास्त्र रखा हुआ दृष्टिगोचर हुआ, जिसमें से कांति निकल रही थी। वह ग्वाला उस शास्त्र को विनयपूर्वक अपने घर ले आया और समय पर उसने वह शास्त्र एक मुनि महाराज को भेंट कर दिया। इस ज्ञानदान के महाप्रभाव से वह ग्वाला अगले भव में आ. कुन्दकुन्द बना।



2. श्री मूलाचार गाथा 189 में इस प्रकार कहा है-  
अञ्जयणे परियट्ठे सवणे कहणे तहाणुपेहाए।  
तवविणय संजमेसु ये अविरहिदुपओग जोगजुत्ताओ ॥

अर्थ - वे आर्थिकाएँ शास्त्र पढ़ने में, पाठ करने, सुनने में, कहने में और अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन में तथा तप, विनय और संयम में नित्य ही उद्यत रहती हुई ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहती हैं।

3. इसी मूलाचार गाथा 896 में इस प्रकार कहा है-  
धीरो वडरगपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिञ्जदि हु।  
ण य सिञ्जदि वेरगविहीणो पडिदूण सव्वसथाइं ॥

अर्थ - धीर, वैराग्य में तत्पर मुनि, निश्चितरूप से थोड़ी भी शिक्षा पाकर सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु वैराग्य से हीन मुनि सर्वशास्त्रों को पढ़कर भी सिद्ध नहीं हो पाते।

4. श्री प्रवचनसार 3/25 में इस प्रकार कहा है-  
उवधरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।  
गुरुवयणं पिय विणओ सुत्तञ्जयणं च णिदिदट्ठं ॥

अर्थ- सर्वज्ञवीतरागदेव-कथित निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में मुनि के उपकारी परिग्रह इस प्रकार कहे हैं- जैसा मुनि का स्वरूप चाहिए वैसा ही यथाजात रूप द्रव्यलिंग का होना, जो अनुभवी महामुनि है उनके प्रति विनयरूप प्रवृत्त होना तथा शास्त्रों का अध्ययन करना।

उपर्युक्त सभी प्रमाण ई. की पहली शताब्दी अथवा उससे पूर्व के हैं, जिनमें प्रमाण नं.1 से विदित होता है कि आ. कुन्दकुन्द से पूर्व भी लिपिबद्ध शास्त्रों का सद्भाव था, तभी तो उस ग्वाले ने शास्त्रदान किया। यह कथा ई. पू. की है। इसके अतिरिक्त शेष प्रमाण पहली शताब्दी के हैं, जिनमें आर्थिकाओं तथा मुनियों को शास्त्रों के पठनपाठन का उपदेश दिया गया है। इससे ध्वनित होता है कि ई. पू. में भी लिपिबद्ध शास्त्रों का सद्भाव था।

विद्वानों से निवेदन है कि इस संबंध में और प्रकाश डालें।

1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,  
आगरा-28 2002 (उ.प्र.)

## अनुकम्पा

सागर से विहार करके आचार्य महाराज संघ-सहित नैनागिरि आ गए। वर्षाकाल निकट था, पर अभी बारिश आई नहीं थी। पानी के अभाव में गाँव के लोग दुखी थे। एक दिन सुबह-सुबह जैसे ही आचार्य महाराज शौच-क्रिया के लिए मन्दिर से बाहर आए, हमने देखा कि गाँव के सरपंच ने आकर अत्यन्त श्रद्धा के साथ उनके चरणों में अपना माथा रख दिया और विनयभाव से बुन्देलखण्डी भाषा में कहा कि “हजूर! आप खों चार मईना इतई रेने हैं और पानू ई साल अब लों नई बरसों, सो किरपा करो, पानू जरूर चानें हैं।”

आचार्य महाराज ने मुस्कराकर उसे आशीष दिया, आगे बढ़ गए। बात आई-गई हो गई, लेकिन उसी दिन शाम होते-होते आकाश में बादल छाने लगे। दूसरे दिन सुबह से बारिश होने लगी। पहली बारिश थी। तीन दिन लगातार पानी बरसता रहा। सब भीग गया। जलमन्दिरवाला तालाब भी खूब भर गया।

चौथे दिन सरपंच ने फिर आकर आचार्य महाराज के चरणों में माथा टेक दिया और गद्गद कंठ से बोला कि “हजूर! इतनो नोई कई तो, भोत हो गओ, खूब किरपा करी।”

आचार्य महाराज ने सहज भाव से उसे आशीष दिया और अपने आत्म-चिंतन में लीन हो गए। मैं सोचता रहा कि, इसे मात्र संयोग मानूँ या आचार्य महाराज की अनुकम्पा का फल मानूँ। जो भी हुआ, वह मन को प्रभावित करता है।

मुनि श्री क्षमासागरकृत  
'आत्मान्वेषी' से साभार

## समाचार

### गोबर गैस से हेलिकॉप्टर उड़ाने का प्रोग्राम

श्री अहिंसा आर्मी ट्रस्ट के ब्रह्मचारी अमृत के.जैन इंजीनियर अपने उदयपुर स्थित शोध केन्द्र, कार्यशाला में पिछले कुछ वर्षों से गोवंश के गोबर व मूत्र से उत्पन्न बायो गैस को 99 प्रतिशत तक परिष्कृत करने के अपने प्रोजेक्ट पर काम कर रहे हैं, ताकि इस गैस से हेलिकॉप्टर उड़ाने का प्रदर्शन कर सकें। इस अभियान को साकार करने की दिशा में आपने विशिष्ट पोलिथीन से निर्मित बेलनाकार डायजैस्टर के माध्यम से 65 प्रतिशत तक शुद्ध बायोगैस और उपजाऊ जैविक खाद बनाने में सफलता पा ली है। मात्र दो पशुओं के गोबर तथा मूत्र को डायजैस्टर तथा गोबर व गोमूत्र के घोल को बिलौनेवाली मशीन का उपयोग करके किसान प्रतिदिन रु. 100/- अतिरिक्त कमा सकता है। डायजैस्टर में लगी एक नली गोबर, मूत्र, पानी आदि का मिश्रण डालने के लिए है। मिश्रण को डायजैस्टर में डालने पर पहली बार 45 दिन में तथा बाद में 8 घंटों में गैस निर्माण होती है। डायजैस्टर के दूसरे भाग में लगी एक अन्य नली से जैविक खाद तरल अवस्था में अपने आप निकलता रहता है। डायजैस्टर के ऊपरी हिस्से में स्थित नली से गर्म गैस निकलती है, जिसे सिलेण्डर में भरा जा सकता है। दो पशुओं के गोबर-मूत्र के लिए निर्मित डायजैस्टर की कीमत मात्र रु. 1200/- है। मिश्रण-घोल बिलौने वाली मशीन की कीमत अलग से है। जैविक खाद को दो रुपये किलो बेचा जा सकता है। डायजैस्टर से निर्मित गैस से चूल्हा व वल्ब जल सकता है। ट्रस्ट द्वारा निर्मित बहूपयोगी किसान वाहन भी चल सकता है। इस गैस से श्री जैन अपना "अहिंसा विजय रथ" (मारुति कार) भी चलाते हैं।

ब्रह्मचारी इंजीनियर श्री जैन, जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी के अनन्य भक्त हैं। आचार्य श्री के उपदेश, प्रेरणा, आशीर्वाद से ही इस जीवदया अभियान में आप अपना घर-परिवार त्याग कर समर्पित हैं। आचार्य श्री विद्यासागर जी के चरणों में अपना शेष जीवन समर्पित कर चुके ब्रह्मचारी श्री ए.के. जैन ने उनके आशीर्वाद तथा जीवदयाप्रेमियों के सहयोग से अपने अहिंसा ट्रस्ट के माध्यम से गुजरात सरकार के साथ मिलकर सर्वोच्च न्यायालय में मुकदमा लड़ा। फलस्वरूप 7 न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने 25 अक्टूबर, 2005 को

ऐतिहासिक निर्णय दिया कि बूढ़ा गोवंश (गाय, बैल, साँड़ आदि) राष्ट्र के लिए उपयोगी है। इसका वध नहीं किया जाना चाहिए। इसके वध पर प्रतिबंध लगाना उचित है।

गोवंश के गोबर-मूत्र को आधार बनाकर विकसित तकनीक के फलस्वरूप आय.टी.पी.ओ. ने ब्रह्मचारी जैन को 27 नवम्बर, 2005 को विशेष पुरस्कार प्रदान किया था। दिल्ली में इसी 14 से 27 नवम्बर तक आयोजित विश्व व्यापार मेले में ए-46 स्टाल पर आपके द्वारा निर्मित सयंत्र प्रदर्शित किए गये थे।

सम्पर्क -

श्री ए.के. ब्रह्मचारी

मो. 09350516037

प्रेषक- निर्मलकुमार पाटोदी, इन्दौर

### परीक्षा परिणाम घोषित

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन प्रशासकीय प्रशिक्षण संस्थान, जबलपुर म.प्र. से 2003-04 की मध्यप्रदेश लोकसेवा आयोग द्वारा आयोजित प्रतियोगी परीक्षाओं में प्रविष्ट 81 प्रशिक्षणार्थियों में से 79 प्री की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे। इन्होंने मुख्य परीक्षा में भाग लिया था, जिसमें 32 प्रशिक्षार्थी उत्तीर्ण हुए हैं।

एड. अजित जैन

निदेशक - प्रशा. प्रशि. संस्थान, जबलपुर

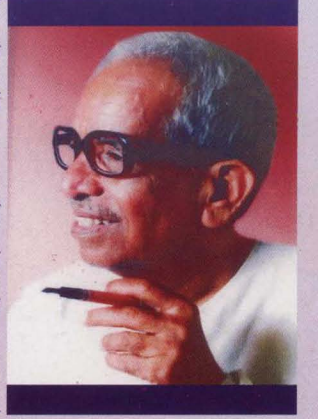
### शोक समाचार

श्री रतनलाल जी नृपत्या जयपुरवाले आत्मसाधना शिक्षण शिवर में भाग लेने के लिए ईसरी (झारखंड) गए थे। लौटते समय पारसनाथ स्टेशन पर ट्रेन में चढ़ते समय पाँव फिसल जाने से दुर्घटना ग्रस्त हो गए और वहीं उनका दुःखद निधन हो गया। श्री नृपत्या जी आ.भा.दि. जैन महा समिति के राजस्थान प्रांत के अध्यक्ष थे एवं अन्य अनेक धार्मिक सामाजिक संस्थाओं से संबद्ध थे। पूर्व में श्री पद्मपुरा अतिशय क्षेत्र के मंत्री भी रहे थे। वे अत्यंत सात्त्विक एवं सरलवृत्ति के धार्मिक सज्जन थे। गत 4-5 वर्षों से प्रतिवर्ष ईसरीशिवर में भाग लेने ईसरी आते थे। श्री नृपत्या जी के निधन से समाज को अपूरणीय क्षति हुई है। हम भावना भाते हैं कि उनकी आत्मा को सद्गति प्राप्त हो और वे धर्म के मार्ग पर आगे बढ़कर शीघ्र मुक्ति प्राप्त करें।

संपतलाल छाबड़ा

## स्व. पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य की प्रतिमा का अनावरण

सागर ( म.प्र. ) में कटरा-नमकमंडी के त्रिपथ पर स्थापित की गयी स्व. डॉ. पं. पन्नालाल जी जैन साहित्याचार्य का प्रतिमा का अनावरण और मार्ग-पट्टिका का लोकार्पण उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज एवं आर्यिका दृढमति माता जी के संसंध सान्निध्य में म.प्र. शासन के नगरीय प्रशासन एवं विकास तथा अवास-पर्यावरण मंत्री श्री जयंत मलैया द्वारा समारोहपूर्वक किया गया ।



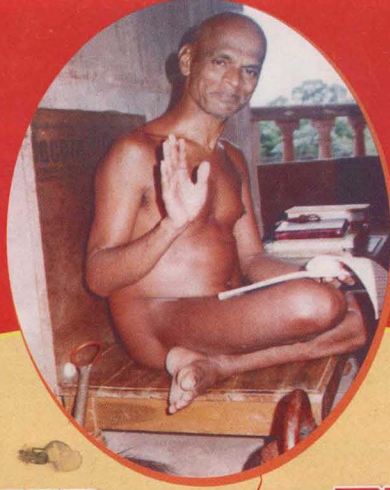
प्रतिमा की स्थापना एवं कटरा नमक मंडी कीर्ति स्तंभ से जामा मस्जिद तक के मार्ग का नाम साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन के नाम पर शासन द्वारा किये जाने के उपलक्ष्य में श्री जयंत मलैया ने कहा कि इतनी जल्दी प्रतिमा की स्थापना करने के लिये स्थानीय निकाय और राज्य शासन बधाई के पात्र हैं ।

समारोह को संबोधित करते हुए नगर-विधायिका श्रीमती सुधा जैन ने कहा कि सागर के इतिहास में लाखा बंजारा, डॉ. गौर और महाकवि पद्माकर के साथ पं.पन्नालाल जी जैन का नाम अमर हो गया । विधायक श्री कपूरचंद घुवारा ने कहा कि विद्वान् का समारोह देखकर मन में प्रसन्नता हो रही है कि उनकी प्रेरणा से आगे भी ऐसे ही विद्वान् समाज से निकलें । पूर्व सांसद डालचंद जैन ने कहा कि पन्ना और रत्न ऐसे दो रत्न सागरवासियों को मिले हैं, जो अपनी प्रतिभा के नाम से देश और दुनियाँ में जाने जाते हैं ।

पूर्व मंत्री विठ्ठलभाई पटेल ने कहा कि आज सागर के हीरे की इज्जत की गयी है । स्वागत भाषण डॉ. जीवनलाल जैन और स्वागत गीत कवि ऋषभ समैया ने प्रस्तुत किया । कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए श्रीमती मीना पिंपलापुरे ने कहा कि स्थापित प्रतिमा के माध्यम से आनेवाली पीढ़ी को भी उनके बताये मार्ग पर चलने की दिशा मिल सकेगी ।

जनसभा को संबोधित करते हुए उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज ने कहा कि पंडित जी की साहित्यिक सेवाएँ दुनियाँ के कोने-कोने में स्वीकारी गयी हैं । उनकी प्रतिमा का अनावरण सागर, म.प्र. तथा भारत के लिये ही नहीं है, वरन् दुनियाँ के लिये गौरव की बात है, क्योंकि उन्होंने अन्तःराष्ट्रीय स्तर पर साहित्य के क्षेत्र में काम किया है । आर्यिका दृढमति माता जी ने कहा कि गुणों और गुणवानों की कद्र करना भारतीय संस्कृति रही है । ज्ञान की ज्योति जिनके जीवन में प्रज्वलित थी, श्रावक के योग्य व्रत, संयम जिनके जीवन में शोभित था, ऐसे पंडित पन्नालाल जी साहित्याचार्य को पाकर सागर धन्य हुआ है । ब्र. जिनेश जी ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए पंडितजी को सागर की पहचान बताते हुए स्वयं को उनका असली बेटा बताया ।

डॉ. भागचंद्र जी भास्कर ने पंडितजी के व्यक्तित्व और कृतित्व की चर्चा करते हुए कहा कि यह पहला अवसर है, जब चतुष्पथ पर किसी पंडित की प्रतिमा का स्थापन और मार्ग का नामकरण किया जा रहा है । डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी ने कहा कि पंडितजी का विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग से अटूट संबंध था । साहित्यकार डॉ. आर.डी. मिश्र ने पंडित जी को ऋषितुल्य नमन करते हुए कहा कि पंडित जी के अंदर सृजन की चेतना थी । संस्कृत के प्रो. एवं सुप्रसिद्ध पत्रिका 'जिनभाषित' के सम्पादक डॉ. रतनचंद्र जैन, भोपाल ने पंडित जी के व्यक्तित्व को ज्ञाननिष्ठ, धर्मनिष्ठ एवं साहित्यसेवापरायण बताते हुए कहा कि उनकी प्रतिमा की स्थापना कर सागर शहर ने अपना शृंगार किया है । पंडित शीतलचन्द्र जयपुर ने कहा कि पंडित जी ने लगभग 93 ग्रंथों का अनुवाद और संपादन किया है । उनके द्वारा किये गये ग्रंथों और पुराणों के अनुवाद से जिन मंदिरों में स्वाध्याय का वातावरण बना है । डॉ. भागचंद्र जैन 'भागेन्दु' दमोह ने कहा कि पण्डित जी विवादरहित विद्वत्ता के धनी और एक महान् साहित्यकार थे । पूर्व प्राचार्य नेमीचंद्र जैन ने श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि पंडित जी की शिक्षा को हम अपने जीवन में उतारें । जनसभा को पंडित गुलाबचंद्र जी दर्शनाचार्य जबलपुर ने भी संबोधित किया ।



● मुनि श्री योगसागर जी

## शान्तिनाथ स्तवन

( इन्द्रवज्रा छन्द )

1

श्री शान्तिनाथ भजले सदा ही।  
जो नाम तेरा सब सौख्य देही ॥  
विश्वास ऐसा उर में बसा है।  
जो दर्श पाता कहता यही है ॥

2

वैराग्यधारी ममता किसी से।  
ना बन्धु वैरी, समता सभी से ॥  
देते न लेते अपरिग्रही हैं।  
ये वीतरागी निजध्यान में हैं ॥

3

ज्ञानी वही है निज को सु-जाने।  
आनन्द पीयूष निजात्म पावे ॥  
स्वर्गीय के वैभव को लजे हैं।  
निर्ग्रन्थदीक्षा क्षण में लिए हैं ॥

4

आश्चर्य यह है बहुकाल बीते।  
देखा नहीं जो तब रूप को मैं ॥  
सौभाग्य आया तब कीर्ति गाता।  
होता यही की मम पाप जाता ॥

5

विश्वास मेरा कहता यही की।  
देरी नहीं है भवमुक्तता की ॥  
ओ काललब्धि वह आ गयी है।  
शुद्धात्मा में लवलीन ही है ॥

## कुन्थुनाथ स्तुति

( भुजंगप्रयात छन्द )

1

प्रभो कुन्थुनाथा करुणानिधी हैं।  
अहिंसा तुम्हारी इसे धारते हैं ॥  
अहोभाग्य मेरा इसे धारता हूँ।  
महामोक्षगामी अतिशीघ्र होऊँ ॥

2

प्रभो दर्श पाता महाभाग्यशाली।  
अनेकों भवों के झरे पाप भारी ॥  
करो भक्ति अर्चा भले पुण्यकारी।  
कलीकाल में तो यही कार्यकारी ॥

3

नहीं जान पाया प्रभो धर्म को मैं।  
किया धर्म जो भी पड़ा पाप ही मैं ॥  
उषा की प्रभाती हुई है निजी में।  
किसी की न चिन्ता रखूँ मैं निजी में ॥

4

त्रिलोकी जनों को सुभाषितवाणी।  
अनिकान्त स्याद्वाद सर्वज्ञ वाणी ॥  
अनेकों कुलिंगी मत्तों को जिताये।  
सभी विश्वप्राणी महा सौख्य पाये ॥

5

नही जानते हैं दुखी क्यों बने हैं।  
सभी मिथ्यात्व से ही घिरे हुये हैं ॥  
अहंकार त्यागें निरंकार ध्यायें।  
इसी मार्ग से ही तभी मुक्ति पायें ॥

प्रस्तुति - रतनचन्द्र जैन